प्रकाश

में

!

लेखक :

साधू वेश में एक पथिक

॥ प्रार्थना ॥

हे नाथ अब तो ऐसी दया हो, जीवन निरर्थक जाने न पाये।
यह मन न जाने क्या क्या दिखाये, कुछ बन न पाया मेरे बनाये ॥

संसार में ही आसक्त रहकर, दिन रात अपने मतलब को कहकर।
सुख के लिए लाखों दुःख सहकर, ये दिन अभी तक यों ही बिताये ॥

ऐसा जगादो फिर सो न जाऊं, अपने को निष्काम प्रेमी बनाऊं।
मैं आपको चाहूं और पाऊं, संसार का कुछ भय रह न जाये ॥

वह योग्यता दो सत्कर्म करलूं, अपने हृदय में सद्भाव भरलूं।
नर तन है साधन भवसिंधु तरलूं, ऐसा समय फिर आये न आये ॥

हे प्रभु हमें निराभिमानी बना दो, दारिद्र हरलो दानी बनादो।
आनन्दमय विज्ञानी बनादो, मैं हूं पथिक यह आशा लगाये ॥

--:o:--

लेखक

साधु वेष में एक 'पथिक'

प्रकाशक

पथिक सहायक संघ

आगरा।

चतुर्थावृत्ति ३००० | सन्वत् २०२३ नवम्बर १९६६ | मूल्य ५० पैसे

शुभ अवसर है तो यह है, जो चाहो लाभ उठाओ।
यह व्यर्थ न जाने पाये, निज को निर्दोष बनाओ।।
सत्संगति से गति मिलती, हितकर पुनीत मति मिलती।
सद्गुरु विवेक मिल जाता, उसको न कहीं ठुकराओ।।
दुःख से न डरो जीवन में, प्रभु का आश्रय धर मन में।
जो कर न सके थे अब तक, वह भी करके दिखलाओ।।
जग के इन संयोगों में, तुम रमो न प्रिय भोगों में।
तजकर वियोग का भय अब, नित योग गीत तुम गाओ।।
अपने स्वरूप को जानो, तन धन अपना मत मानो।
मोही बन कर आये थे, प्रेमी बन कर ही जाओ।।
इच्छाओं के त्यागी बन, प्रभु के ही अनुरागी बन।
ऐ पथिक कहीं भी रहकर, तुम परमानन्द मनाओ।।

पुस्तक प्रकाशन का प्रपंच क्यों ?

१—इसलिये कि, इन पुस्तकों के लिखने में प्रकृति का रजोगुणी अंश सार्थक होता है।

२—पथिक प्रवचन-प्रेमी श्रोताओं को सुने हुए की स्मृति में पुस्तकाध्ययन द्वारा पुनः स्मृति जाग्रत होती है।

३—सामयिक शैली में इस प्रकार की नूतन पुस्तकों द्वारा पुरातन, सनातन, सदाचार एवं धर्म का विवेक होता है।

४—इस प्रकार के अध्ययन द्वारा आध्यात्मिक विचारों का प्रसार होता है। बुद्धि में समझने की शक्ति बढ़ती है। अध्ययन से बुद्धि को खुराक मिलती है।

५—इन पुस्तकों के विक्रय धन से पथिक-सहायक संघ के सदस्यों को निर्धन सुपात्रों की सेवा का अवसर सुलभ होता रहता है।

विषय—सूची

(गद्य)

(पद्य)

पृष्ठ

कल्याण दुःखी जीवन का यह भगवान न जाने कब होगा।
जिससे भवभ्रान्ति मिटा करती वह ज्ञान न जाने कब होगा॥

जिससे निज दोष दिखा करते पापों अपराधों से डर के।
उस सद्विवेक का मानव में सन्मान न जाने कब होगा॥

अच्छे दिन बीते जाते हैं गुरुजन सब विधि समझाते हैं।
भोगस्थल से योगस्थल में प्रस्थान न जाने कब होगा॥

शीतलता जिससे आती है सारी अतृप्ति मिट जाती है।
वह नित्य-प्राप्त है प्रेम सुधा पर पान न जाने कब होगा॥

यद्यपि हैं सभी सुलभ साधन सोचते यही हैं मन ही मन।
जिससे कि 'पथिक' प्रभुमय होवे वह ध्यान न जाने कब होगा॥

आस्तिक और नास्तिक में अन्तर

गुरु ज्ञान प्रकाश में हम आस्तिक और नास्तिक का कुछ और ही अन्तर देख रहे हैं।

कोई भी बुद्धिमान मानव शास्त्र के शब्दों का वास्तविक अर्थ तथा उसके साथ रहने वाले भाव और भाव के अभ्यन्तर रहने वाले रहस्य को जब तक नहीं समझ लेता है, तब तक उन शब्दों के सहारे सत्य तक न पहुँचकर असत्य में ही भ्रमित रहता है। आज के मानव-समाज में जिस प्रकार त्याग, तप, ज्ञान, प्रेम और भक्ति आदि शब्दों का बहुत ही संकुचित अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है उसी प्रकार आस्तिक शब्द का भी संकीर्ण ही अर्थ प्रचलित है। प्राय: लोग आस्तिक उसको कहते हैं जो परमेश्वर को मानता है और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। जब ईश्वर के मानने वाले आस्तिकों और न मानने वाले नास्तिकों के जीवन की गतिविधि पर दृष्टिपात किया जाता है तो दोनों एक दिशा में चलते हुए लोभी, मोही, अभिमानी, कामी, क्रोधी, भयातुर, दुखी और शोक-विलाप से ग्रस्त दीख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो परमेश्वर को मानने वाले इस प्रकार के आस्तिकों की अपेक्षा नास्तिक अधिक श्रमी, संयमी, सदाचारी, कर्तव्य-परायण दयालु, उदार और दानी दीख पड़ते हैं और आस्तिक आलसी, असंयमी, दुराचारी, कर्तव्य विमुख, कठोर और कृपण सिद्ध होते हैं।

विचार यह करना है कि वास्तव में आस्तिक कौन है? केवल सत्य के मानने वाले को आस्तिक किस प्रकार कहा जाय? माना वह जाता है जो वर्तमान काल में नहीं है; तो सत्य भी क्या कहीं नहीं है? यदि सत्य सर्वकाल में है तो माना क्यों जाय? सत्य तो जानने

ही योग्य है। सन्तों ने बताया है कि सत्य का अनुभव स्वय में ही होता है अत: स्वयं को जानना आवश्यक है।

जो सर्वकाल में हैं, जिससे देश-काल-वस्तु प्रकाशित हो उसे जो जानता है वही आस्तिक है। आस्तिक उस पूर्ण की शरण लेता है जिसमें कोई अभाव नहीं है, जिसमें उत्पत्ति, विनाश और जड़ता का दोष नहीं है और जिसमें देश-काल की दूरी नहीं रहती है, आस्तिक को कहीं भी चिन्ता और भय के लिये स्थान नहीं है, वह विनाशी के पीछे नित्य अविनाशी का दर्शन करता है। चिन्ता, भय और शोक-विलाप तो नास्तिक के जीवन में आते हैं। जिसे शाश्वत अविनाशी सत्य का अनुभव नहीं होता है वही विनाशी वस्तु का आश्रय लेते हुये उसके नाश की आशङ्का से चिन्तित, भयातुर और दुखी होता है। जिसे अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्ति का अनुभव होता है वह आस्तिक है; जो परिवर्तनशील वस्तु-व्यक्ति में प्रतीत होनेवाले सुखमें आसक्त रहता है वह नास्तिक है। नास्तिक अनेक की उपासना करता है पर आस्तिक अनेकता के पीछे आधार स्वरूप एक सत्य का उपासक होता है। जिसकी बुद्धि अन्तर्मखी होकर सत्यदर्शी है वह आस्तिक है; जिसकी बुद्धि बहिर्मुखी होकर असत्यस्पर्शी है वह नास्तिक है।

दूसरों से सुन-सुनकर मन से मान लेना नास्तिकता है, माने हुए को बुद्धि से तत्वत:—स्वरूप से—जान लेना आस्तिकता है। आस्तिक स्वतन्त्र शान्ति का अपनी चेतना की गहराई में निर्बाध अनुभव करता है, उसका सम्बन्ध नित्य वर्तमान से रहता है। नास्तिक पराश्रित सख का अपने से वाहर जड़त्व के संयोग से आस्वादन करता है, उसका सम्बन्ध भविष्य से रहता है। आस्तिक दोषों का त्यागी होता है, सद्गुणों का प्रेमी होता है, नास्तिक असत् सुखों का रागी और तदनुसार प्रतिकूल परिस्थिति आने पर द्वेषी होता है। आस्तिक में बुद्धि-दृष्टि की प्रधानता होती है; नास्तिक में इन्द्रिय-दृष्टि का पक्ष

रहता है। नास्तिक इन्द्रिय-दृष्टि से जिस दृश्य को सत्य मानता है, आस्तिक उसी को बुद्धि-दृष्टि से असत्य जानता है। नास्तिक में देहासक्ति प्रबल रहती है, माया-मान-भोगसुख की प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है; आस्तिक में आत्मानुरक्ति प्रधान होती है, त्याग और ज्ञान के द्वारा नित्य सत्य का योग ही उसके जीवन का ध्येय रहता है जो संसार से मिली वस्तु तथा व्यक्ति में अपनत्व मानता है वही नास्तिक है; जो मिली हुई वस्तु अपनी न मानकर परमेश्वर की जानता है वह आस्तिक है। मिली हुई वस्तु तथा व्यक्ति में अपनत्व मानने से ही लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषों की पुष्टि होती है; इसीलिये नास्तिक अपने बनाये हुए दोषों के कारण ही सुख के अन्त में दुःख देखता है। आस्तिक अपने निर्दोष जीवन के कारण प्रत्येक परिस्थिति में स्वस्थ और शान्त रहता है। नास्तिक वस्तु और व्यक्ति की दासता में आबद्ध रहता है, आस्तिक इससे मुक्त रहता है।

सेवा, सदाचार, इन्द्रिय-दमन, दान आदि सद्गुण नास्तिक में भी पाये जाते हैं, पर निरपेक्षता, समता, सत्यनिर्भरता, निःस्पृहता, निष्कामता, निर्वैरता, निर्मोहता आदि दैवी गुणों की विशेषता आस्तिक जीवन में ही मिलती है। नास्तिक सीमित अहंता-ममता में बद्ध रहता है, आस्तिक उनसे मुक्त रहता है। नास्तिक विविध सुखों और दुःखों का भोग करता है; विषमता को प्राप्त होता है। आस्तिक सुख-दुःख का सदुपयोग करता है, उनके प्रकाश को देखते हुए सदा समस्थित रहता है।

सच्चा आस्तिक ही पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण भगवद्भक्त और असत्य से विरक्त होता है। सत्य को, परमेश्वर को, परमानन्द परमात्मा को मानने मात्र से ही आस्तिकता पूर्ण नहीं होती है। यदि कोई अविनाशी परमेश्वर को सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् मानता हो और विनाशी वस्तु तथा व्यक्ति का आश्रय लेकर संयोग की दासता और वियोग के भय से कहीं सुखी और कहीं दुखी होता रहता हो तो वह आस्तिक नहीं सिद्ध होता है।

नास्तिक अनेक बार संयोग का अन्त वियोग में देखता है; आस्तिक संयोग की दासता का त्यागकर वियोग का अन्त योग में देखता है। नास्तिक बार-बार सुख का अन्त दुःख में देखता रहता है; आस्तिक सत्य का ज्ञान प्राप्त कर दुःख का अन्त नित्य आनन्द में देखता है। नास्तिक बार-बार जीवन का अन्त मृत्यु में देखता है, पर आस्तिक नित्य जीवन को जानकर मृत्यु का अन्त मुक्ति में देखता है। सर्वाधार, महान्—परम तत्व परमात्मा का योगी आस्तिक है; जगत् के परिवर्तन शील विनाशी नाम रूप का संयोगी नास्तिक है।

सन्त के सङ्ग की महिमा

ज्ञान प्रकाश में हमें सन्त का महत्त्व विदित हुआ।

संसार में यदि किसी को बन्धनों से—दुःखों से मुक्त रहना हो तो सर्वोपरि एक ही उपाय है कि वह किसी का भी सङ्ग न करे। सर्वसाधारण जन सङ्गजनित बन्धनों से सर्वत्र बद्ध दीखते हैं, इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय सर्वसङ्गमुक्त संत की सुसङ्गति है। वह जीव बहुत सुन्दर—भाग्यवान् है जो अल्पावस्था में ही बुद्धि जाग्रत् होने के साथ—कुछ भी सुनने समझने के साथ संत का सुसङ्गी हो जाता है। वे नर-नारी बहुत पुण्यशील हैं जो गृहस्थी में प्रवेश करने के पहले ही संत की सुसङ्गति में उससे निकलने और पाप से बचने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जीवन में गति तथा सद्गति अन्य साधनों से होती है, पर परमगति तो संत के सुसङ्ग से ही सुलभ है। जो पुरुष अपने जीवन को तथा जो कुछ भी जीवन में प्राप्त है उसको सार्थक करना चाहता है, उसे विरक्त ज्ञानी गुरुजन का श्रद्धापूर्वक मानरहित होकर सुसङ्ग करना चाहिये। ऐसा करने से परम गति—परम शान्ति मिलती है।

परम पावन ज्ञान स्वरूप संत सद्गुरु का दर्शन बाहरी नेत्रों से नहीं होता। इसके लिये श्रद्धा की दृष्टि चाहिये। जितनी ही शुद्ध एवं सात्विक श्रद्धा होगी, उतना ही प्रगाढ़ तथा निकट सम्बन्ध होगा। पूर्ण श्रद्धालु ही संत सद्गुरु की आज्ञा के पालन में तत्पर रह सकता है। पूर्ण श्रद्धा ही गुरुमुखता है, इसकी प्रतिकूलता मनमुखता है। जिस गृहस्थ को विरक्त संत का सङ्ग सुलभ नहीं है, जिस गृहस्थ के घर में संत की चरणधूलि नहीं पड़ती है, वह दूरदर्शी की दृष्टि में पुण्य-हीन ही है। विरक्त संत की सुसङ्गति से ही मनुष्य को स्वकर्तव्य—स्व-धर्म और सत्य-आचार का ज्ञान होता है। ज्ञान होने पर ही मनुष्य परमात्मा—का भक्त होता है और असत्य पदार्थ की आसक्ति से वन्धन से विरक्त होता है।

स्व के ज्ञान एवं सत्य का ध्यान दृढ़ हुए बिना सभी शुभकर्मी मानव कामी, क्रोधी, लोभी और मोही बने रहते हैं। केवल कमाने-खाने, संतान पैदा करने और उनके पालन-पोषण करने में ही अपने कर्तव्य का अन्त कर देते हैं, सत्य-शान्ति की ओर आगे नहीं बढ़ पाते हैं। मानव-जीवन स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण शरीरों से पूर्ण होता है। ये चारों शरीर विभिन्न लोकों के द्रव्यों के बने होते हैं। जो शरीर जितना ही अधिक शक्तिशाली होता है उतना ही अधिक वह अपने लोक में क्रियाशील होता है। जिस प्रकार बलवान् स्थूल-देह इस भूलोक में काम करती रहती है उसी प्रकार बलवान् सूक्ष्म, मानस और विज्ञानमय शरीर क्रमशः भुवर्लोक, मनस् लोक और विज्ञान-लोक में कार्य करने की क्षमता रखते हैं। अपने जीवन में आध्या-त्मिक शरीर को सत्यसंगति से बलवान् बनाने पर ही आध्यात्मिक जगत् में पहुँच सम्भव है। जगत् की वास्तविकता तथा जगदाधार—सत्य तत्वके ज्ञान की पूर्णता के लिये ही संत-सद्गुरु के सुसंग की परम आवश्यकता है। सत-सद्गुरुदेव के सुसंग में दोषों का पूर्ण त्याग हो जाता है संत का सुसंग किया जाता है उसी स्तर में उसका प्रभाव पड़ता है। यदि शरीर संत के समीप ही और मन घर परिवार और

व्यापार में घूमता है, बुद्धि प्रपञ्च में अटकती है तो सुसंग का प्रभाव मन और बुद्धि पर नहीं पड़ सकता है। संत-सद्गुरु की सुसंगति-प्राप्ति होने पर देह में गुरुभावना नहीं सीमित करनी चाहिये, उनके ज्ञान-स्वरूप में श्रद्धापूर्वक उपासना का भाव दृढ़ करना चाहिए। यदि गिलास में अमृत पीने को मिल जाय तो अमृत को ही महत्व देना चाहिये, गिलास की पूजा-स्तुति बुद्धिशील का काम नहीं है। जिस देह संघात द्वारा ज्ञानामृत का पान होता है उसका उसी प्रकार आदर करना है जिस प्रकार अमृत के पात्र का आदर किया जाता है, पर अमृत और पात्र के अन्तर का स्मरण सदा रखना चाहिये। देह में गुरुभावना अथवा गुरु में देहभावनाने अनेक श्रद्धालुओं को धोखा दिया है, परम ज्ञान और शान्ति से वञ्चित रक्खा है। संत सतगुरु का ज्ञान सदा साथ रहता है, उसकी प्राप्ति के लिये जीव स्वतन्त्र है, गुरु का शरीर सदा साथ नहीं रह सकता है और उसकी प्राप्ति के लिये जीव स्वतंत्र भी नहीं है। संत के शरीर से मोह होना भूल है, संत की शरण में तो सबसे पहले मोह की ही निवृत्ति होनी चाहिये। प्रकाश को देखना और उसकी स्तुति करते रहना ही विवेक का पथ नहीं है। प्रकाश में देखना भी संत के सङ्ग की परम उपयोगिता है।

कठिन क्यों

प्रियतम का तब पाना कठिन है।
जब अभिमान मिटाना कठिन है।।

जिसके जीवन में दुःखदाई दोषों का ही त्याग न होता।
उसके उर में प्रियतम के प्रति काम शून्य अनुराग न होता।
तब तो ध्यान लगाना कठिन है।। प्रियतम का० ।।

भोग जनित सुख की आशा से बंधे हुए हैं प्राणी जग में।
सद्विवेक बिन देख न पाते कष्ट उठाते हैं पग-पग में।
श्रद्धा बिना समझाना कठिन है।। प्रियतम का० ।।

जहाँ चैन आती रहती है, समझो सच्ची चाह नहीं है।
सच्ची चाह हुए बिन मिलती सत्य प्रेम की राह नहीं है।
प्रीति को पूर्ण बनाना कठिन है ।। प्रियतम का० ।।

जो आस्तिक प्रेमी कहला कर चिन्ता करता है तन धन की।
जो स्वामी का सेवक होकर पूर्ति चाहता अपने मन की।
पथिक सुपथ में आना कठिन है।। प्रियतम का० ।।

—:०:—

गुरुतत्व का रहस्य

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें गुरु तत्व का रहस्य विदित हो सका ।

किसी शब्द का अर्थ तो बालक भी रट लेते हैं पर उसका भाव विचारशील मानव ही समझ पाते हैं और भावगत रहस्य की अनुभूति सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमानों को ही होती है ।

गुरु शब्द का भावार्थ बड़ी सरलता से तब समझ में आता है जब लघु शब्द के अर्थ का ध्यान रहता है । गुरु वह है जिसमें लघुता नहीं होती । जो किसी के द्वारा नहीं हिलता है—जिसे संसार के सुख-भोग की कामनाएँ चञ्चल नहीं कर पाती हैं और जो सुखद सुन्दर वस्तु पर विमुग्ध—लुब्ध नहीं होता है, वही गुरु है ।

गुरु ज्ञानस्वरूप है किसी गुरु में देहभाव अथवा देह में गुरुभाव की प्रतिष्ठा करना सत्य की ओट में असत्य की उपासना है । अपने ज्ञान-स्वरूप से भगवान् ही परम गुरु है । वे हीं दुखी प्राणियों के कल्याण के लिये शुद्ध तथा निर्मल—पवित्र अन्त:करण वाले व्यक्तियों में अपना ज्ञानस्वरूप प्रकाशित—अभिव्यक्त करते हैं । इस प्रकार के व्यक्तियों को मानव-समाज महापुरुष, महात्मा और संत आदि नाम से समलंकृत करता है । यदि किसी संत, महात्मा, महापुरुष नाम वाले व्यक्ति से सद्ज्ञान—दिव्यगुण अलग करके देखा जाय तो वह कदापि श्रद्धेय, पूज्य और माननीय न रह जायगा । इससे यह सिद्ध होता है कि आकृति—व्यक्ति पूज्य, सेव्य और उपास्य नहीं है; उसमें दैवीगुण तथा ज्ञान की पूर्णता ही उपास्य, सेव्य और पूज्य है । दैवीगुण—पूर्ण-ज्ञान अथवा निष्काम प्रेम की उपासना—आराधना ही वास्तविक गुरु की उपासना-आराधना है ।

गुरु पद की वन्दना सनातन से होती आ रही है परन्तु हम गुरु पद का अर्थ केवल शरीर के चरण ले लेते हैं और चरणों की

पूजा में ही गुरु की पूजा को सीमित कर देते हैं। फल फूल की भेंट देकर और स्वादिष्ट भोजन कराके तथा कुछ वस्त्रों की भेंट देकर गुरु सेवा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनके छूटे हुए उच्छिष्ट अन्न को गुरु प्रसाद मानकर उसे पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं; परन्तु जिसके शरीर की तथा चरणों की या चरण धूल की अथवा उच्छिष्ट प्रसाद की इतनी बड़ी महिमा गाते हैं, उसी महापुरुष के हृदय से निकली हुई वाणी द्वारा प्रकट हुई कल्याणकारी आज्ञाओं को मानने में हम कहीं आलस्य, कहीं प्रमाद, कहीं स्वच्छन्दता का परिचय देते हैं, यही कारण है कि हम लोग अपने को शिष्य, गुरुभक्त कहते हुए भी गुरु संग के महद् लाभ को अपने जीवन में दिखा नहीं पाते।

जिस प्रकार प्रपञ्चरत व्यक्ति लोभी, मोही, अभिमानी, ईर्ष्यालु द्वेषी दीखते हैं उसी प्रकार यदि हम अपने को गुरु भक्त सत्संगी कहते हुए भी लोभी, मोही, अभिमानी बने रहे तो किस प्रकार यह सिद्ध कर सकते हैं कि गुरु भक्त हैं, सत्संगी हैं ?

यदि हम गुरु की समीपता का तथा सुसंग का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं तो हममें और एक मनमुख में अन्तर होना ही चाहिये इसके लिये हमें गुरु आज्ञा का पालन करना परमावश्यक है, उसमें कहीं हमें दोषों का त्याग करना होगा, कहीं दुर्बलता की निवृत्ति के लिये तप करना होगा तभी हम अपने को गुरुपद के प्रेमी कह सकते हैं।

जिस प्रकार राजपद, मंत्रीपद, सेवक पद, स्वामी का पद होता है उसी प्रकार सर्वपदों के ऊपर सर्वोपरि महान् गुरुपद होता है उस गुरुपद की वन्दना सभी श्रद्धालु करते ही हैं।

गुरु के संग से हमें अपने दोषों, दुर्विकारों का दर्शन होता है और उनकी आज्ञा से उन दोषों, दुर्विकारों का त्याग कर सकते हैं। गुरु के शरीर के प्रति भी श्रद्धा रखना; सेवा करना, मनन करना यह तो अत्यावश्यक शुभ है परन्तु वह शरीर के प्रति ही सीमित रखना भूल है।

जब लघु का आश्रय लेकर—लघु पर निर्भर रहकर मानव स्थिर सुख तथा शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता है और उसके परिवर्तन तथा विनाश को देखकर अनेक बार वियोग, हानि और अपमान से दुखी हो लेता है, तब किसी गुरु की शरण में जाता है। ज्ञान की कमी से दुखी होकर ज्ञान की पूर्णता के लिये संशयरहित होकर तथा अभिमान का त्यागकर अपने आप को गुरु के आगे रख देना ही गुरु-शरण है। लघु से गुरु होने के लिए ही गुरुशरण की आवश्यकता है। गुरु का प्रेमी लघु का मोही नहीं रह जाता, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला छोटी-छोटी बातों के पीछे हर्ष और शोक नहीं करता है। सांसारिक पदार्थ और सुखोपभोग की वस्तु की मांग लघु-आज्ञा है; तप, त्याग, प्रेम आदि दैवीगुण की पूर्णता और दोष के नाश की माँग गुरु-आज्ञा है।

जो ज्ञानस्वरूप गुरु की आज्ञा-पालन करते हुए अपने बनाए दोषों का नाश करता है तथा सद्गुणों से जीवन सुसज्जित करता है और गुणों को भगवद्गत जानता है वह गुरुमुख है—गुरु का उपासक है। इसके विपरीत गुरु-ज्ञान का अभिमानी होकर गुरु की दया का उपयोग अपने मन की रुचि-पूर्ति में करने वाला मनमुख है। गुरुमुख मानव सत्य का योगी होकर परम शान्ति पाता है, मनमुख मानव सांसारिक सुखों का भोगी होकर अन्त में अशान्त और दुखी होता है।

ज्ञानस्वरूप गुरु का कभी नाश नहीं होता है। जिन नाम-रूप में ज्ञानस्वरूप गुरुतत्व का दर्शन हो, उन्हीं के निकट बैठकर व्यक्तित्व की नहीं, गुरुतत्व की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार गुरु की उपासना करने वाला शोक, मोह और दुःख के बन्धन से मुक्त होकर स्वयं गुरु हो जाता है। गुरु के व्यक्तित्व का उपासक संसार में बद्ध रहता है। श्रद्धायुक्त शुद्ध बुद्धि से गुरु का दर्शन होता है। श्रद्धायुक्त विवेक से गुरुप्रदत्त सम्पत्ति का ग्रहण होता है। श्रद्धायुक्त प्रीति से गुरु-सम्पत्ति की रक्षा होती है। श्रद्धायुक्त त्याग से गुरु के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होती है और श्रद्धायुक्त तप-संयम से गुरु के पथ में प्रगति

होती है। ...... गुरुमन्त्र परमानन्द परमात्मा से संयुक्त करता है। गुरु भक्ति लघुता की सीमा से—बन्धन से मुक्त कर देती है।

वही मानव शान्ति जग में पा रहे हैं।
जो सतत् गुरु ज्ञान को अपना रहे हैं॥
भोग सुख का अन्त दुख है किन्तु फिर भी।
जिसे देखो उधर ही ललचा रहे हैं॥
देखते न वियोग को संयोग में जो।
कभी रोयेंगे अभी जो गा रहे हैं॥
जिन्हें जीवन में न दिखती मृत्यु निश्चित।
वही जीवन व्यर्थ खोते आ रहे हैं॥
जगत दृश्य जिन्हें असत्य न दीखता है॥
वही बन्धन मोह व्याधि बढ़ा रहे हैं॥
देह को ही रूप अपना मानते जो।
वही जीव विनाश पथ में जा रहे हैं॥
जो कि अपना सतस्वरूप न जानते हैं।
वही चिन्तित भयातुर घबरा रहे हैं॥
जिस तरह से मुक्ति मिल सकती दुखों से।
पथिक को गुरु जन यही समझा रहे हैं॥

मैं कौन हूँ ? मेरा क्या है ?

श्लोकार्धेनि तु वक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभि: ।
'ममेति परमं दुःखं निर्ममेति परं सुखम् ।। (शिवपुराण)

करोड़ों ग्रन्थों में, जो कहा है वह मैं आधे श्लोक में कहता हूँ, 'ममता ही परम दु:ख है, ममता रहित होने में ही परम सुख है।'

'जो चाहे हरि मिलन कूं मैं मेरी, को छाँड़, मैं मेरी को गाइकै बहुत भये है भाँड़ ।।
मैं मैं बड़ी बलाय है सको तो निकसौ भागि। कह कबीर कैसे रहे रुई लपेटी आगि।

जब हम अपने से भिन्न 'यह' के रूप में जगत देखते हैं तभी मैं का भान होता है, पुन: जब जगत् की किसी भी वस्तु से सम्बन्ध जोड़कर मैं और मेरी कहने लग जाते हैं तभी मैं का आकार बनने से अहंकार हो जाता है, इसके आगे अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन तुच्छ मानने से अभिमान का जन्म होता है।

अभिमान के मुख्य सात आधार होते हैं। १ विद्या, २ कुल, ३ रूप, ४ धन, ५ बल, ६ अधिकार, ७ तप।

जब तक हम लोग संसार के वैभव, ऐश्वर्य, वाह्य सौन्दर्य की सत्यता पर विश्वास करते हैं तब तक अहंकार अभिमान का संकीर्णता से नहीं छूट सकते।

अहंकार अभिमान का आधार संसार की विनाशी वस्तुओं से अपनी एकता स्थापित करना है। जो अपनी नहीं हैं उनके साथ मिलकर 'मैं मेरी' मानना ही एकता है।

जितना अहंकार अभिमान प्रबल होता है उतने ही अधिक दुःख बढ़ते हैं। यह सीमित अहंकार अभिमान ही सत्य विमुख और संसार के सम्मुख रखकर रागी तथा द्वेषी बनाता है।

सदोष, मैं और मेरापने के अहंकार अभिमान वश अनेकों पाप बनते हैं, बारबार विनाश का दर्शन होता है; इसीलिये सन्त सद्गुरु 'मैं मेरी' को त्यागने की प्रेरणा देते हैं।

जिनकी समझ में आ गया है उन्हीं के यह उद्गार हैं:—

"मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर॥
तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा पिण्ड अरु प्रान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा यह दादू का ज्ञान॥"

सन्त वचन—

'अपने में अपना कुछ नहीं है इस ज्ञान से अभिमान मिट जाता है। अभिमान मिटाने पर सारे दोष सद्गुणों में बदल जाते हैं। ऊँचा से ऊँचा सद्गुण अभिमान आने पर दुर्गुण में बदल जाता है।'

अविनाशी परमात्मा से भिन्नता और विनाशी जगत् की देहादिक वस्तुओं से अभिन्नता मानते रहने तक अभिमान दूर नहीं होता।

अपने से जो भिन्न है उनसे सम्बन्ध तोड़ लेने पर अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, स्वरूप का ज्ञान होने पर सत्य परमात्मा की एकता का बोध होता है।

जो वस्तु अहं में स्थापित हो जाती है उसका निकलना कठिन हो जाता है।

अपने में कुछ रख लेने से ही अपना स्वरूप अशुद्ध हो गया है। जैसे कि अपने में नाम, रूप, उपाधियाँ, जाति, सम्बन्ध सम्पत्ति रख लेने या इनमें अपने को रख देने पर ही मैं तथा मेरापन का अभिमान पुष्ट हो रहा है यही अपने स्वरूप की अशुद्धि है।

अपने में जब हम नाम रूप को रख लेते हैं तभी अपने को हम ब्राह्मण, हम क्षत्री, हम वैश्य, हम गोरे, हम काले, हम दुबले, हम बलवान कहने लगते हैं।

अपने में जब उपाधियों को रख लेते हैं तब अपने को हम बी० ए०, हम एम० ए०, हम डाक्टर, हम वकील, हम क्लर्क, हम जिलाधीश, हम मन्त्री, हम राष्ट्रपति, कहने लगते हैं। इसी प्रकार जब अपने में सम्बन्ध तथा सम्पत्ति रख लेते हैं तब अपने को हम पुत्र, हम पिता, हम पति, हम पत्नी, हम माता अथवा हम धनी, हम निर्धन, हम मालदार, हम कङ्गाल इत्यादि नामों से अभिव्यक्त करते हैं। यही अनेकों प्रकार के हमारे माने हुए रूप हैं जिनके अभिमानी होकर हम सत्य से विमुख हो रहे हैं।

सन्तवचन—

'वृत्ति का न उठना ही निवृत्ति है। देहाभिमान के रहते निवृत्ति नहीं हो सकती। देहाभिमान की निवृत्ति भी प्रवृत्ति के लिये और निरभिमानी की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिये होती है।'

जिस प्रकार देहादिक पदार्थों से सम्बन्धित होकर मैं का भान होता है उसी प्रकार मेरापने का अभिमान होता है। जो सदा अपने साथ नहीं रहता उसी को अपना मानकर मेरा मेरा कहकर मोह लोभादि दुखद विकारों को हम बढ़ाते रहते हैं।

अभिमान के रहते हुए वासना नहीं छूटती। देहाभिमानी संसार का दास होता है।

पहले हम किसी वस्तु अथवा गुण से एकता स्थापित करते हैं फिर दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मान कर अभिमानी बनते हैं और दूसरे को श्रेष्ठ मानकर दीन बनते हैं।

मैं और मेरेपन के अभिमान में अगणित दुःख हैं, स्वरूप ज्ञान द्वारा असत से असंग होने पर ही यह दुःख मिटेंगे।

जब तक संग का अभिमान है तब तक सर्वोपरि महान् परमात्मा का ज्ञान तथा ध्यान दृढ़ नहीं हुआ समझना चाहिये। क्योंकि सर्वाधार

परमात्मा का ज्ञान होने पर, ध्यान रहने पर अपना कुछ नहीं प्रतीत होता। सब कुछ अपनी वासना पूर्ति के लिये मिला हुआ दीखता है तब अभिमान नहीं रहता। आस्तिक जीवन में अभिमान नहीं रहता।

किसी भी साधन से यदि हममें गुण का अथवा संग का अभिमान न रहे और किसी दोष के लिये अपने में स्थान न रहे वही सर्व श्रेष्ठ साधन है। चाहे वह नामजप हो या गुण कीर्तन हो या पाठ हो, या ध्यानाभ्यास हो या सेवा हो, साधना करते हुए यदि हम संग-दोष जनित अभिमान से मुक्त न हुए तो निर्दोष तत्व योगी नहीं हो सकते।

आज तक अभिमान के रहते किसी को न परमानन्द परमात्मा का योग मिला, न मोक्ष मिला। हम सहस्रों अभिमानी किसी न किसी व्यक्ति के पूजने और पुजवाने में ही रस लेते रहते हैं।

हम सबको एक रहस्यपूर्ण बात समझ लेनी है, वह यही है कि अभिमान का त्याग हम तब तक नहीं कर सकते जब तक सर्वोपरि महान् को न देखने लग जाँय। हम सबके भीतर जो मान की भूख है उसका अभिप्राय यही है कि हम सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करना चाहते हैं और भूल यही है कि अज्ञानवश लघु की, विनाशी की जड़ वस्तु की शरण लेते हैं।

हम सबको चाहिये कि सर्व श्रेष्ठ होने के लिये जो संसार में सब से श्रेष्ठ है, महान् है उसकी ओर देखें उसी का संग करें। सर्व श्रेष्ठ वही है जिसमें कोई दोष न हो। हम सर्वोपरि श्रेष्ठ निर्दोष की संगोपासना से ही दोष मुक्त हो सकते हैं।

यदि दोष के संग से हम दोषी बने हैं तो निर्दोष के संग से निर्दोष हो सकते हैं। हमारे आगे यदि दोष युक्त देह है, विषय विकार हैं, क्षण अस्थायी सुख हैं, परिवर्तन शील दृश्य हैं तो हमारे पीछे निर्दोष तत्व चिन्मय आत्मा है, वह निर्विकार है उसमें स्थायी आनन्द है, वह एक रस है। जिस प्रकार हम विनाशी देह के संगाभिमानी होकर सीमित अपूर्ण जीवन के विकास ह्रास विनाश से चञ्चल अस्थिर अशान्त भ्रमित हो रहे हैं उसी प्रकार हम अविनाशी आत्मा

के संगाभिमानी होकर असीम पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्त कर जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त शान्त होकर अनेकता में व्याप्त एकता का अनुभव कर परमानन्द से पूर्ण हो सकते हैं।

अब हमें अपने को विनाशी वस्तुओं के संग से अर्थात् मैं को दृश्य के संग से हटाकर अविनाशी तत्व से नित्य संयुक्त देखना है।

हम जिस असत्य के सम्मुख हैं उससे विमुख होना है और जिस शाश्वत सत्य से विमुख हैं उसके सम्मुख होना है।

दृश्य के साथ मैंपन ही अशुद्ध दुखकारी अभिमान है।

दृश्य के साथ मेरापन ही दुखद राग है।

दृश्य से मैं को हटा लेना ही सच्चा त्याग है।

दृश्य के प्रकाशक में मैं जोड़ देना ही सत्यानुराग है। जो कुछ दीखता है उन देहादि वस्तुओं से अभेद सम्बन्ध ही वन्धन है। इसके विपरीत सत्य आत्मा से अभेद सम्बन्ध अनुभव करने पर ही बन्धन से मुक्ति मिलती है।

असत्य से, सीमित से, जड़ से परतन्त्र वस्तु से मैं को अलग कर लेना है, सत्य से, असीम से, चेतन से, स्वतन्त्र से मैं को जोड़ देना है। यही असत् से सत् की ओर सीमित से असीम की ओर जड़ से चेतन की ओर, अर्थात् देह से आत्मा की ओर, परतन्त्र से स्वतंत्रता की ओर, दुख से आनन्दन की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर 'मैं' को अर्थात् अपने को मोड़ देनो है।

शरीर को 'मैं या मेरा' मान लेने से ही हम पर संसार का प्रभाव पड़ता है। शरीर को 'मैं या मेरा' कहते हुए हम दुःख सुख के वन्धन से नहीं बच सकते—

'नारायण संसार में भूपति भये अनेक ॥
मैं मेरी करि मरि गये लै न गए तृण एक ॥'

'मैं' पन मिटे विना सत्स्वरूप को ज्ञान नहीं होता है तो देह के भीतर 'मैं' का ज्ञान ही अज्ञान निवृत्ति का साधन है।

कर्तव्य

गुरुज्ञान प्रकाश में हमें कर्तव्य का भी विशेष दर्शन हो रहा है।

हम लोग कभी कभी गुरुजनों से जब त्याग, तप, दान की महिमा सुनते हैं तब स्वीकार तो कर लेते हैं कि त्याग, तप, दान अवश्य करना चाहिये परन्तु इनका वास्तविक अर्थ न जानने के कारण यह कहने लगते हैं कि 'हम गृहस्थ हैं, हमारे ऊपर अभी परिवार का भार है, उनके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्तव्य है।'

गुरुज्ञान प्रकाश में हमें यह ज्ञात हुआ कि प्राय: हम लोगों में से अनेकों को कर्तव्य का भावार्थ नहीं विदित है क्योंकि जैसा कुछ अर्थ कर्तव्य का किया जाता है उस दृष्टि से तो कर्तव्य पालन का पक्ष त्यागी तपस्वी दानी नहीं होने देता। कर्तव्य पालन के कारण ही भगवद् भजन, साधन नहीं हो पाता, परन्तु ऐसा सोचना कर्तव्य का बहुत ही अनुचित अर्थ लगाना हैं।

वस्तुत: कर्तव्य पालक व्यक्ति ही त्यागी तपस्वी सेवा परायण दानी और भगवदानुरागी होता है। एक सन्त से मैंने सुना था—

अपने कर्तव्य को पूर्ण करते ही जो होना चाहिये वह स्वत: ही हो जाता है।

कर्तव्य का सरल अर्थ है 'करने योग्य'। करने योग्य वही है जिस से किसी का अहित न हो, वरन दूसरों का हित हो। सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही कर्तव्य है परन्तु उसमें भी हमारा उतना ही कर्तव्य है जितना कुछ हम कर सकते हैं और उतना ही कर सकते हैं जितना करने के लिये हमारे साथ साधन सुलभ हैं।

जो कुछ हम नहीं कर सकते अर्थात् जिसकी सिद्धि के साधन हमारे पास नहीं हैं वह हमारा कर्तव्य नहीं है।

हमें सद्गुरु ज्ञान प्रकाश में यह भी ज्ञात हो गया कि अपने कल्याण के तथा अपने हित के लिये जो कुछ करना चाहिए वह हम कर सकते हैं, क्योंकि उसके लिये जो कुछ साधन हैं वह सदा सुलभ हैं। अथवा जो सुलभ है वही साधन है।

हमारा कल्याण अथवा हित यदि वस्तु तथा व्यक्ति के द्वारा ही हो सकता होता तो हमें कठिनता थी किन्तु अपना हित दूसरे की सेवा करने में, दोषों का त्याग करने में, परमात्मा के चिन्तन करते रहने में निश्चित है तब हम सब लोग दूसरों की सेवा के लिए, दोषों के त्याग के लिए, परमात्म चिन्तन के लिए सदा स्वतन्त्र हैं, इसीलिये अपने कर्तव्य के पालन में हम कहीं परतन्त्र नहीं हैं।

यदि हम लोग सुख चाहते हैं तो यही कर्तव्य है कि जो कुछ शक्ति तथा योग्यता हमारे साथ है उसके द्वारा दूसरों को सुख देते रहें, किसी को अपने सुख के लिये दुख न दें।

जो कुछ हमें मिला है यदि उसका भोग ही करते रहेंगे, दूसरों को उसका कुछ भाग न देंगे तो कुछ ही दिनों पश्चात् वह समाप्त हो जायगा। यदि मिले हुए को देते रहेंगे तो वह कई गुना अधिक बढ़ कर हमें प्राप्त होता रहेगा चाहे वह सुख हो या दुःख हो।

मिला हुआ सुख तो बाँटने की वस्तु है। किन्तु दुःख बाँटने की वस्तु नहीं वह तो अकेले भोग लेने में ही बुद्धिमानी है क्योंकि भोगने से उस दुःख का अन्त हो जायगा।

पृथ्वी से जो अन्न हमें मिला है उसे यदि हमें पुनः पृथ्वी में कुछ हिस्सा बो देते हैं तो कई गुना अधिक वापस होकर मिलता है, यदि नहीं बोते हैं तो कुछ दिन में वह अन्न खाते-खाते समाप्त हो जाता है।

उसी प्रकार प्राणियों की सृष्टि में सुख बोते रहने से सुख बढ़ता है नहीं बोने से घटता जाता है और किसी समय वह सुख दुःख में बदल जाता है।

यदि हम धन चाहते हैं तो विधिवत श्रम करते रहना कर्तव्य है। श्रम से अथवा पूर्व पुण्य से प्राप्त धन को सुपात्र को दान देना कर्तव्य है।

यदि मान की चाह है तो बड़ों की, गुरुजनों की सेवा करते रहना अथवा दूसरों को मान देते रहना कर्तव्य है। यदि हमारे पास धनाभाव है तब धन का दान हमारा कर्तव्य नहीं होता परन्तु शरीर तथा वाणी के द्वारा तो हम सबको मान दे ही सकते हैं, अतः जो कुछ हम शुभ कर सकते हैं वही हमारा कर्तव्य है।

अपने गृह में स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि, त्यागी, देवता और आश्रित को सुखी रखना कर्तव्य है। इन सबको सुखी रखने से दैवी-सम्पत्ति साथ रहती है, इन सबको दुखी रखने से, अनादर करने से दैवी सम्पत्ति चली जाती है। जो दूसरों को दुखी देखकर प्रसन्न होता है उसके पास दुःख अवश्य आता है। जो दूसरों के सुख से प्रसन्न होता है उसे सुख सुलभ होता है।

शक्ति और महत्ता प्राप्त करने के लिये तप कर्तव्य है। स्वधर्म पालन में तथा दूसरों की सेवा करते हुए जो भी कष्ट आवें उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहते रहना तप है। जिससे दुर्बलता न रहे वही तप है।

बुद्धिमत्ता तथा विवेक वृद्धि के लिए बुद्धिमानों तथा विरक्त ज्ञानी महापुरुषों की सेवा करना, कर्तव्य है।

सन्ताप, पश्चात्ताप से मुक्त रहने के लिए क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष का त्याग कर्तव्य है।

दूसरों का प्यार पाने के लिये उनके काम आना अभिमान लोभ रहित होकर सेवा करना कर्तव्य है।

कष्ट के अवसर पर सहायता के लिये धैर्य रखना कर्तव्य है। जिस कर्म से सद्गुणों की वृद्धि हो वही करना उत्तम कर्तव्य है।

सुखी दशा में अपने से हो सकने वाली दुखियों की सेवा कर्तव्य है। सेवा करने से सद्गुणों की वृद्धि तथा सद्गति होती है सबका प्यार प्राप्त होता है। सेवा न करने से सुखी व्यक्ति भोगासक्त होता है, दुर्बल, रोगी, पराधीन, निस्तेज, रागी, द्वेषी और सत्य विमुख होता है।

दुखी दशा में दुख देने वाली चाह का अथवा दुखद दोष का त्याग कर्तव्य है। त्याग करने से निश्चिन्तिता, निर्भयता दूरदर्शिता, अन्त: करण की पवित्रता, सरलता, विनम्रता आदि सद्गुणों की वृद्धि के साथ शान्ति प्राप्त होती है। त्याग न करने वाले व्यक्ति में शोक, शक्ति का ह्रास, द्वेष, क्रोध, निन्दा, छल-कपट, धूर्तता, दुर्बलता, रुग्णता, अशान्ति की वृद्धि होती जाती है।

जब हम सुखी दशा में कर्तव्य विमुख हो जाते हैं तब दुख अपने आप आता है। कर्तव्य परायण व्यक्ति की सहायता दैवी शक्तियां करती है।

माया के बन्धन से छूटने के लिये अपने स्वरूप को जानना, परमेश्वर की शास्त्र की आज्ञा मानना कर्तव्य है।

दुर्व्यवहार से बचने के लिये कन्जूसी, असंयम, आलस्य, प्रमाद, अभिमान का त्याग कर्तव्य है।

जाने हुए दोषों को छोड़ना और जाने हुए अच्छे-अच्छे गुणों को अपने में धारण करना कर्तव्य है। जो जाने हुए दोषों का त्याग नहीं करता और अपने दोष भी नहीं देखता, साथ ही अपने विश्वास पात्र प्रभु से प्रगाढ़ प्रीति नहीं कर सकता उसकी साधना में प्रगति नहीं होती।

जहाँ विश्वास है वहीं प्रीति गहरी है। गहरी प्रीति में त्याग, तप बहुत सुगम हो जाते हैं।

प्रेम पात्र की अटूट प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए प्रीति को कामना रहित बनाना कर्तव्य है।

मन को निर्मल बनाने के लिये शुभ संकल्पों को पूर्ण करना, अशुभ संकल्प उठने ही न देना, अवकाश मिलते ही निर्दोष तत्व का चिन्तन करना कर्तव्य है। एक सन्त से मैंने सुना था—

अपने हित के लिये स्वार्थ भाव को सेवा के द्वारा विषय सुखों के प्रति लोलुपता को इन्द्रिय संयम के द्वारा, असत्य वस्तुओं के चिन्तन को आत्म ध्यान के द्वारा मिटाना कर्तव्य है।

योग सिद्धि के लिये चित्तवृत्ति को रोकना और जड़ विनाशी वस्तुओं के विपरीत परम चेतन आत्मा में चित्त का लगाना कर्तव्य है।

मुक्ति के लिये सर्व संग का त्याग करना कर्तव्य है, जो कुछ हमने सुन-सुन कर मान लिया है उसी को बुद्धि से जानना कर्तव्य है। मानने से बन्धन मोह और जानने से विराग होता है।

दु:ख से मुक्त होने के लिये सुख से विरक्त होना, अपमान वेदना से मुक्त होने के लिये सम्मान रस से विरक्त होना, रोग जनित कष्ट से मुक्त होने के लिये भोग से विरक्त होना, वियोग विथा से मुक्त होने के लिये संयोग से विरक्त होना, शोक से मुक्त होने के लिये हर्ष से विरक्त होना, हानि के आघात से बचे रहने के लिये लाभ से विरक्त होना, देह की मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिये एहिक जोवन की ममता से मुक्त होना परम हितकारी कर्तव्य है।

कर्तव्य की पूर्णता के लिये बड़ी से बड़ी कठिनाइयों, प्रतिकूलताओं को सहन करना पड़ता है। हमें सन्त ने समझाया कि दूसरों के कर्तव्य पालन से हमें सुख भले ही मिल जाय पर अपनी उन्नति, अपना हित तो अपने ही कर्तव्य पालन से हो सकता है।

हम सबको इतने कर्तव्य परायण होना है कि दूसरे लोग हमें देखकर स्वयं ही कर्तव्य पालक बनते जायें।

कर्तव्य का ज्ञान हो जाने पर शास्त्र ग्रन्थ अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। केवल कर्तव्य पालन के द्वारा ही मानव परमेश्वर की कृपा का अधिकारी हो जाता है; कर्तव्य पालक पर अनायास ही कृपा होती रहती है।

भूमि को विधि पूर्वक बनाकर बीज बो देना अपना कर्तव्य है उसके पश्चात् बीज का उगना पल्लव पुष्प और अन्त में एक बीज से अनेकों बीज बन जाना यही कृपा है।

जो हमको करना चाहिये बह विधिवत कर लेने पर जो परमेश्वर अथवा प्रकृति की ओर से होना चाहिये वह स्वत: होगा। कर्तव्य

समाप्त होते ही कृपा का कार्य आरम्भ हो जाता है, कर्तव्य का उत्तर कृपा है।

विधिवत कर्म करने की योग्यता प्राप्त करना, साथ ही प्राप्ति शक्ति तथा योग्यता का सदुपयोग करना, परिश्रमी एवं संयमी होना मानव का कर्तव्य है।

आत्मा में अनन्त शक्ति, सामर्थ्य एवं अनन्त ज्ञान है, यह सब जिस प्रयत्न से पूर्ण विकसित हों वही कर्तव्य है। कर्तव्य को जानने के लिये गुरु की, शास्त्र-मनन की आवश्यकता है।

सन्त का वचन है कि जो काम हमें करना चाहिये वह काम यदि भगवान करें तो हमारा क्या कर्तव्य है, बिचार तो करो !

जिस दोष से दुःख होता है उसका त्याग करना और जिस सुखोपभोग से अनेकों दोषों की वृद्धि होती है उस सुख की परिस्थिति में अधिकारी पात्रों की सेवा करना बुद्धिमान मानव का कल्याणप्रद कर्तव्य हमने सन्त से समझा है।

राग द्वेष

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें राग द्वेष के दुष्परिणाम का भी दर्शन हो रहा है।

सोई ज्ञानी सोइ गुनी सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि ॥

सभी दोषों का जन्म तथा वृद्धि राग और द्वेष की सीमा में ही निश्चित है। सुख से राग का जन्म, दुख से द्वेष का जन्म होता है। मन से मानी हुई अनुकूलता में सुख की प्रतीति और प्रतिकूलता में दुःख की प्रतीति होती है।

मन से मानी हुई अनुकूलता, प्रतिकूलता तथा माने हुए सम्बन्धों पर विचार करने से अपनी भूल का ज्ञान होता है, तभी राग द्वेष का त्याग शान्तिदायी दीखता है। मैंने पढ़ा है—

त्याग और प्रेम के बिना राग द्वेष का अन्त नहीं होता।

त्याग किसी वस्तु का नहीं करना होता वरन मन के सम्बन्ध का करना पड़ता है। इसी प्रकार प्रेम किसी व्यक्ति से नहीं होता, वह तो वस्तु व्यक्ति के प्रकाशक सत्य से होता है।

किसी के पास यदि धन है तो धन का त्याग नहीं करना है, बल्कि उस धन के सम्वन्ध से मन में जो लोभ है उसी का त्याग करना है। किसी अधिकार का त्याग नहीं करना है, अधिकार के सम्वन्ध से जो अभिमान प्रबल है उसका त्याग करना है। किसी सम्वन्धी का त्याग नहीं करना है; उसी सम्वन्धी के प्रति जो मन में मोह भरा है उसी का त्याग करना।

नेत्रों से रूप दर्शन का, कानों से शब्द श्रवण का, नासिका से गन्ध ग्रहण का, त्वचा से स्पर्श का और रसना से रसास्वादन का त्याग नहीं करना है, त्याग करना है शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के प्रति सुखासक्ति का, अथवा सुखोपभोग की वृत्ति का त्याग करना है। जब तक भोगों से आसक्ति रहेगी तब तक राग द्वेष की निवृत्ति नहीं होगी।

वास्तव में त्याग उसी का किया जाता है जो अशुभ है, जो असुन्दर है, अपवित्र है, अनावश्यक है। विचार दृष्टि से देखने पर धन, अधिकार, माता पिता, पत्नी, पुत्र, वन्धु, वान्धव आदि अशुभ, असुन्दर, अपवित्र, अनावश्यक नहीं हैं, इनके सम्वन्ध से अज्ञानवश मन में उत्पन्न होने वाले लोभ, अभिमान, मोहादि दोष अशुभ, असुन्दर, अपवित्र, अनावश्यक हैं; अतः यह दोष त्याज्य हैं।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ अशुभ, असुन्दर अपवित्र नहीं हैं उनके विषयों के प्रति आसक्ति तथा विषय जनित सुखोपभोग में शक्ति का अपव्यय असुन्दर, अपवित्र, अनावश्यक है उसी का त्याग, विवेकी मानव करते हैं।

यदि हम दुखी होकर, जिस कारण से दुख आते हैं उन दोषों का त्याग न करके गृह, कुटुम्ब, धनादिक पदार्थों का त्याग करते हैं

तब किसी दूसरे प्रकार के गृह कुटुम्ब वैभव की रचना करते हुए त्यागी तो हो नहीं पाते, त्याग का अभिमान अवश्य मस्तिष्क में भर लेते हैं। ऐसे त्याग के अभिमानी राग द्वेष के बन्धन से नहीं छूट पाते।

हमने चाहे जितना बड़ा त्याग किया हो किन्तु जब तक राग द्वेष का त्याग नहीं किया तब तक त्याग का फल परम शान्ति नहीं मिल सकती, मान, माया भोग की प्राप्ति भले ही हो सकती है।

रागद्वेष का त्याग न करके गृह कुटुम्ब ग्राम तथा वस्त्राभूषण त्याग करने वाले, अपने को साधु सन्यासी, उदासी, विरागी, तपस्वी, परमहंस, जगद्गुरु की उपाधि से समालंकृत करने वाले सैकड़ों अशिक्षित ही नहीं वरन् शिक्षित विद्वान् जहाँ तहाँ मिल सकते हैं परन्तु राग द्वेष से रहित वीतराग द्वन्द्वातीत सन्त कहीं बिरले ही होते हैं। साधक को उनकी खोज नहीं करना है प्रत्युत स्वयं ही वीतरागी होना है।

यदि इस प्रकार के त्यागियों, तपस्वियों का दर्शन समूह रूप में कोई करना चाहे तो किसी कुम्भ मेले में, तीर्थों में, कर सकता है। वहाँ पर जब त्यागियों की सवारी निकलती है और भिन्न भिन्न अखाड़ों के, सम्प्रदायों के, मतों तथा समाजों के लोग जब एक दूसरे की सजावट बनावट और हाथी घोड़े मोटरों को देखकर प्रतिस्पर्धा पूर्वक होड़ लगाते हैं तब भली प्रकार पता चलता है कि त्याग किसे कहते हैं। कोई खोज कर ऐसा त्यागी कठिनता से पा सकेगा जिसने अपना गृह का त्याग करके दूसरा गृह, कुटी आश्रम के रूप में न बनाया हो, अपना कुटुम्ब परिवार त्याग कर शिष्य सेवक के रूप में दूसरे परिवार की रचना न की हो, साधारण स्थिति में मिलने वाले मान माया को त्यागने के पश्चात् विस्तृत रूप में मान, माया की प्राप्ति का पथ न बनाया हो, रागी की नकल छोड़ने के पश्चात् त्यागी की नकल न की हो।

सर्व समर्थ परमगुरु भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में रागद्वेष के त्याग का सर्वोत्कृष्ट फल बताया है। वास्तव में त्याग की पूर्णता में ही परम तत्वज्ञान तथा परमात्मा का नित्य योगानुभव होता है। सच्चे त्यागी संसार में महापुरुष सन्त महात्मा नाम से विख्यात हैं। उनके दर्शन समागम से मानव समाज को यथार्थ ज्ञान विवेक की प्राप्ति होती है; ऐसे त्यागी महापुरुष ही सर्वभूतों के हित में लगे हुए हैं उसके बदले में मान माया भोग कुछ भी नहीं चाहते हैं।

इधर हम लोग अपने को त्यागी महात्मा सिद्ध करने के लिये बड़े-बड़े ठाट बाट बनाते हैं। मेलों में बड़े-बड़े उँचे फाटक बनाते हैं। अपनी वाणी को स्वर की दिगन्त व्यापी बनाने के लिये धनिकों से धन लेकर यन्त्र लगाते हैं, सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये सबसे अधिक सुन्दर सिंहासन बनाने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही अन्य त्यागियों, ज्ञानियों के उपदेशों से अपनी तुलना करते हैं। और अपने से किसी को न्यून पाकर तृप्त होते हैं अपने से अधिक श्रेष्ठ देखकर दीन होकर असन्तुष्ट होते हैं, यह है हम त्यागियों की मन:स्थिति।

एक आचार्य ने निर्णय दिया है कि जो त्याग के पश्चात् सत्य को नहीं पाता वही त्याग का अभिमानी बनता है। जो पा जाता है उसे त्याग का स्मरण ही नहीं रहता।

कभी-कभी तो त्यागी महात्माओं के दर्शन से पाप नाश की, पुण्य प्राप्ति की भावना लेकर आने वाली नर नारियों की भीड़ें साधु लोगों की चरण रज उठाने, उसमें लेटकर पाप मुक्त हो जाने के लिये परस्पर टकराते हैं, गिरते हैं, कुचलते हैं और सैकड़ों अपने प्राण गवाँकर शरीर बन्धन से तो मुक्त हो जाते हैं, पाप से मुक्त हुए या नहीं यह तो वही जानते होंगे। कुम्भ मेलों में होने वाली दुर्घटनाओं से प्राय: सभी समझ वाले सज्जन परिचित हैं। इस प्रकार की भयंकर हानियों दुर्घटनाओं के मूल में भी यही राग तथा द्वेष ही है।

हम सबको सावधान होकर विचार करना चाहिये और विचार विकास के लिये विरक्त ज्ञानी महापुरुषों के ज्ञान की शरण लेनी

चाहिये । हम लोगों को चाहिये कि बाहरी वस्तुओं के त्याग को महत्व न देकर पहले वास्तविक त्याग का ज्ञान प्राप्त करें, त्याग का वेष न बनायें । कोई सच्चा त्यागी ही सर्वोत्तम पद प्राप्त करता है । जो रागद्वेष का त्याग कर देता है वह सभी स्थानों में त्याग और प्रेम को पूर्ण कर सकता है ।

संयोग के प्रति राग न रहने पर संसार का त्याग हो जाता है । सुख के प्रति राग न रहने पर सम्बन्ध का त्याग हो जाता है ।

अधिकार-भोग के प्रति राग न रहने पर अभिमान का त्याग हो जाता है । परम लाभ त्याग के ऊपर ही निर्भर है ।

यदि कोई तप करता है तो उसमें शक्ति की वृद्धि होनी ही चाहिये । भगवान् को कोई अपना मान लेता है तो उसके हृदय में प्रगाढ़ प्रीति प्रभु के प्रति होनी चाहिये । जो कोई सेवा करता है तो उसमें पवित्रता रहनी ही चाहिये । इसी प्रकार जो कोई रागद्वेष का, लोभ मोहादि दोषों का तथा भोगों की वासना का त्याग करता है तो अखण्ड शान्ति उसे प्राप्त होनी ही चाहिये ।

हम जिसका त्याग नहीं कर पाते उसी से प्रगाढ़ प्रीति होना निश्चित है । त्याग उसी का नहीं कर पाते जिसके प्रति सुखासक्ति है । सुखासक्ति व्यक्ति की आसक्ति त्यागने के लिये विरक्त सन्त में आसक्ति आवश्यक है ।

जब तक किसी के हृदय में सांसारिक सुखोपभोग की तथा धन सम्पति की और अधिकार सम्मान की कामना प्रवल है तब तक वह राग द्वेष के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता ।

रागद्वेष की निवृत्ति या तो संयोगजनित सुख की दासता और वियोगजनित भय के त्याग से होती है या फिर संशय-विहीन विश्वासपूर्वक परम प्रभु में नित्य निर्भर रहने से होती है। ऐसा सन्त वचन है ।

उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध ।

प्रत्येक द्वेष का जन्म किसी न किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति राग से ही होता है।

जो हमारा नहीं है, जो हमने उत्पन्न नहीं किया है, जो कुछ हमें मिला है उसे अपना मानना ही राग है। रागी ही भोगासक्त होता है। भोगासक्त ही सुख की सीमा में आवद्ध होता है।

रागी परतन्त्र है, त्यागी ही स्वतन्त्र है। द्वेषी को ही दुःख रूप दण्ड मिलता है प्रेमी को प्यार रूप पुरस्कार मिलता है। इन्द्रियों के ज्ञान को पूर्ण मानने वाला रागी होता है। राग देहाभिमान को दृढ़ करता है, उसीसे भोगों में प्रवृत्ति, उसका फल पराधीनता, शक्ति-हीनता, जड़ता है। सीमा वद्ध अहं ही रागी द्वेषी होता है, सीमा से मुक्त अहं ही त्यागी प्रेमी होता है।

सन्त वचन —किसी को भी अपने में न रखना त्याग है।

सीमित अहंता ममता को छोड़ना ही त्याग है।

लोभ, मोह, अभिमान, सुखभोग की तृष्णा तथा किसी प्रकार की सांसारिक चाह का न रहना ही त्याग की पूर्णता है। सभी दोषों को मिटाने की शक्ति त्याग में ही है।

संसार को जानकर ही कोई राग का त्यागी हो सकता है। भग-वान् को अपना सर्वस्व मानकर ही कोई प्रेमी हो सकता है।

संसार के प्रति राग और द्वेष ही त्याग एवं प्रेम को पूर्ण नहीं होने देता। सन्त ने समझाया है कि—

त्याग और प्रेम की पूर्णता ही मानवजीवन की पूर्ण सफलता है। जो त्याग नहीं करता उसे दुःख त्यागी बनाता है। असत्य का त्याग ही सत्य से प्रेम है त्याग से ही सभी अंगों समेत जीवन शुद्ध होता है। प्रेम से ही सभी अंगों सहित जीवन का सुन्दर शृङ्गार होता है।

अनावश्यक अशुद्ध चेष्टाओं क्रियाओं के त्याग से कर्मेन्द्रियों की शुद्धि होती है। अनावश्यक अशुद्ध संकल्पों के त्याग से ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार शुद्ध होता है। अनावश्यक अपवित्र इच्छाओं के त्याग से मन का व्यापार शुद्ध होता है।

अनावश्यक अपवित्र विनाशी स्वीकृतियों तथा सम्बन्धों के त्याग से बुद्धि का विचार विस्तार शुद्ध होता है।

अनावश्यक अपवित्र असत्‌संगाभिमान के त्याग से अहं का आकार शुद्ध होता है—जिससे ही अपने सत्याधार का अनुभव होता है।

अहं का आकार जितना ही शुद्ध होता है उतना ही वह व्यापक तथा सीमा बन्धन से मुक्त होता जाता है।

अज्ञानी के अहं का आकार देहमय होता है किन्तु ज्ञानी के शुद्ध अहं जड़मय न रहकर चैतन्यमय होता है।

जहाँ तक रागद्वेष है वहाँ तक अज्ञान की ही सीमा है। सद्ज्ञान के द्वार में प्रवेश पाते ही त्याग प्रेम आरम्भ हो जाता है।

परमात्मा में अनन्त गुण ऐश्वर्य माधुर्य होते हुए उन्हीं के प्रेमी नहीं बनते यह द्वेष नहीं तो क्या है?

देह के अनेकों दोषों विकारों की बात सुनते हुए अहंकार के दुष्परिणाम को भोगते हुए भी विराग त्याग नहीं होता—यह राग नहीं तो क्या है?

अपने को शरीर मानना, यही सीमित अहं है; ज्ञान की कमी से सीमित अहं विचार नहीं कर पाता; विचार की कमी के कारण ही यह भोगों में सुख मानता है, सुख मनाने के कारण ही यह रागी है।

दुःख की पूर्णता में ही रागद्वेष का त्याग सुगम होता है। त्याग से प्रेम की पूर्णता सरल दीखती है। प्रेम की पूर्णता में समस्त दोषों का दुखों का दुर्बलताओं का अन्त हो जाता है।

"प्रीति राम सों, नीति पथ, चलिय राग रिस जीति।
तुलसी सन्तन के मते यहै भगत की रीति॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार॥"

मूक सन्देश

इस जगत से जाने वाले मानों कहते जा रहे हैं।
ध्यान रखना तुम्हारे भी जाने के दिन आरहे हैं॥
पुण्य निज हित के लिये जो कुछ तुम्हें करना हो करलो।
जो न कर पाये समय पर पीछे वह पछता रहे हैं॥
किसी के दिन एक सम जग में सदा रहते न देखा।
हँसने वाले रो रहे हैं, रोने वाले गा रहे हैं॥
यहाँ जो कुछ भी मिला है तुम उसे अपना न मानो।
बन्धनों से मुक्ति का यह मार्ग सन्त बता रहे हैं॥
मान माया भोग सुख की चाह ही सबको नचाती।
पथिक कोई त्याग के बिन कहीं शान्ति न पा रहे हैं॥

दुःख सुख का सदुपयोग

ज्ञान प्रकाश में हम दुःख सुख के सदुपयोग की विधि की जानकारी प्राप्त हुई।

मानव-समाज में ऐसी मान्यता है कि मानव-जीवन प्रारब्ध के अनुसार दुःख-सुख के भोग के लिये मिला है कर्मभोग की दृष्टि से यह ठीक ही है। पर तत्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों का कहना है कि मानव-जीवन-दुःख-सुख के भोग के लिये नहीं, दोनों के सदुपयोग के लिये होना चाहिये। जो जीवन केवल भोग के ही लिये है वह तो कीट-पतंग-पशु-पक्षियों का जीवन है, पशु-जीवन में विचार करने अथवा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने की बुद्धि नहीं होती है, वह तो केवल मानव-जीवन में ही होती है, इसलिये

मानव वही है जो बुद्धि के द्वारा विचार पूर्वक दुःख-सुख का सदुपयोग करे। मिले हुए सुख का उदारता पूर्वक अपने से दुःखी जनों में वितरण ही सुख का सदुपयोग है। मिले हुए दुःख को तप के भाव से मौन रहकर सह लेना और जिस चाह की अपूर्ति से दुःख होता है उसका त्याग करना अथवा जिस परापेक्षी सुख के लिये दुःख होता है उससे ही विरक्त हो जाना दुःख का सदुपयोग है।

जो व्यक्ति दुःखी होकर दूसरों को दुःख देता है वह एक नया अपराध करता है। जो सुखी होने पर दूसरों को सुख देता है वह और भी अधिक सुख पाने का अधिकारी बनता है। प्रायः संसार में जितने भी दुःख हैं वे जीव के किसी-न-किसी दोष के ही कारण आते हैं। उनके मूल में अज्ञानवश लोभ, मोह, अभिमान और काम की प्रधानता हैं। इन्हीं का प्रबलता में राग, द्वेष, क्रोध, छल, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि अनेक दोषों का विस्तार होता जाता है। इन्हीं दोषों के कारण अनेक दुःख जीव को देखने पड़ते हैं। जो मनुष्य दुःख मिटाना चाहता है उसे दोषों को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये। दोषों के मिटने पर दुःख अपने-आप मिट जायेंगे। किसी पीड़ा की औषधि करने के साथ उसका कारण जान लेना आवश्यक है। इसी तरह दुःख मिटाने का उपाय जानने के साथ-ही-साथ उसका कारण जान लेना भी आवश्यक है।

कुछ लोग सांसारिक सम्बन्धियों और वस्तुओं के संयोग से दुःख-निवृत्ति की आशा करते हैं, पर यह स्मरणीय है कि इस प्रकार के संयोग से कुछ देर के लिये दुःख दब जाता है पर मिटता नहीं है। यद्यपि सुख-प्राप्ति का साधन अधिकाधिक पुण्यों का संचय और विधवत् प्रयत्न है तो भी अधिक सुख से किसी का दुःख नहीं मिटता है। दुःख, दोषों के त्याग ही से मिटता है। दुःख ही पाप से पुण्य, अविचार से विचार, राग से त्याग, द्वेष से प्रेम, भोग से योग, असंयम से संयम, मृत्यु से मुक्ति, सुख से आनन्द, असत्य से सत्य, देह से

शाश्वत आत्मा और अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। दोषों से मुक्त हुए बिना दुःख कभी पीछा नहीं छोड़ता है।

दुःखी होकर दूसरों को दोषी ठहराना और भी अधिक दुःख को आमन्त्रित करना है। दुःखी होकर अपने भीतर दोषों को खोज लेना मानवता है—बुद्धिमता है। विवेक की प्रधानता में ही मानवता प्रतिष्ठित होती है, मानवता में दिव्यता का अवतरण ही जीवन की सार्थकता हैं। दुःख ही सद्गति का मुहूर्त बनता है, दुःख की कमी दोषों के पथ में ले जाती है, दुःख की पूर्णता दोषों से विमुख बनाने में सहायक होती है, संसार से निराश होने पर ही दुःख पूर्ण होता है और ऐसी स्थिति में ही जीव भगवान् के शरणागत होता है। शरणागति से दोषों का अन्त होने पर दुःख से सदा के लिये मुक्ति मिल जाती है।

पूर्ण दुःखी संसार से विरक्त हो जाता है, किसी को दुःख नहीं देता है; साँसारिक विनाशी वस्तुओं के संयोग का सुख नहीं चाहता है दुःख की निवृत्ति चाहता है इसलिये वह त्याग को अपनाता है। त्यागी होना ही दुःख का सदुपयोग है। संसार से कुछ न चाहना, किसी पदार्थ का व्यक्ति को अपना न मानना और 'मैं-पन' तथा 'मेरे-पन' को छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। दुःख और सुख के सदुपयोग के लिये प्रत्येक मानव स्वतंत्र है। जो सुख-भोग में आसक्त रहता है तथा दुःख से डरता है वह जीवन में कोइ भी श्रेष्ठ कार्य नहीं कर पाता है। दुःख से न डरकर दोष से डरना चाहिए। दोष के त्याग से दुःखी पर दीनबन्धु परमात्मा की दया हो जाती है, वह सौभाग्य की ओर गतिशील होता है। सुखी और सौभाग्यशाली व्यक्ति दोष को स्वीकार करते ही दुर्भाग्य के पथ में पतित होता है। सुख की चाह का त्याग कर देने पर दुःखी को आनन्द मिलता है; चाह के रहते परिवर्तनशील भोग मिलता है। दुःख दर्शन से जीव का विकास और सुख-भाग से शक्ति का ह्रास होता है। जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दस्वरूप भगवान् दुःख प्रदान नहीं कर सकते; समस्त दुःख मानव के दोषों के कारण ही होते हैं। दोषों का अन्त

करने के लिए संत पुरुषों ने तीन उत्तम साधन बताये वे हैं जितेन्द्रियता, दूसरों की निष्पक्ष-निष्काम सेवा और भगवान् का चिन्तन। अविवेकी द्वारा दुःख-सुख का भोग बन्धन का पथ है। विवेकी द्वारा दुःख-सुख का सदुपयोग मुक्ति का मार्ग है। अज्ञानी सुख दुःख का भोक्ता होता है विवेकी मानव सुख दुःख की सीमा का दृष्टा होता है। जो अपने आपको जानता है वही ज्ञानी है स्व को नहीं जानता वही अज्ञानी है।

मानव स्वयं ही भाग्य का विधाता है

हमें गुरु ज्ञान के द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि मनुष्य स्वयं अपना भाग्य निर्माता, है उसे सुन्दर असुन्दर रूप में गढ़ने वाला है, अपने ही बनाये हुए भाग्य भवन में इसे रहना होता है चाहे वह आगे चल कर अनुकूल हो या प्रतिकूल हो।

जिस प्रकार एक-एक ईंट के द्वारा अथवा एक पत्थर के ऊपर दूसरा पत्थर विधिवत् रखते जाने से शरीर के रहने योग्य भवन बन जाता है, विधि की भूल होने से योग्यता की कमी से, तथा प्रमाद से भवन असुन्दर दुःखदाई भी हो जाता है उसी प्रकार एक-एक कर्म के ऊपर कर्म करते जाने से भाग्य भवन बनता है। यह भवन भी विधि की भूल से योग्यता के दुरुपयोग से असुन्दर दुःखद प्रतीत होता है परन्तु भवन बन जाने पर तब तक उसी में रहना होता है जब तक दूसरा अनुकूल सुन्दर भवन अपनी शक्ति से, विधिवत् प्रयत्न से तैयार न कर लिया जाय।

इस लोक तथा परलोक की स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों का जितना ही ज्ञान हमें होगा उतना ही हम लोग उन शक्तियों का अपने भाग्य निर्माण में उपयोग कर सकते हैं।

केवल शक्ति प्राप्त होना ही शुभ सुन्दर सुख सौभाग्य की बात नहीं है, सौभाग्य की बात शक्ति के सदुपयोग का ज्ञान प्राप्त होना है।

शक्ति तो पशु पक्षियों को मनुष्य से अनेकों गुना अधिक प्राप्त है परन्तु ज्ञान की कमी से मनुष्य के अतिरिक्त प्राणी उस प्राप्त शक्ति द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक सदुपयोग कर अपने जीवन को सुन्दर तथा बन्धन मुक्त नहीं बना पाते हैं।

विवेक के द्वारा हम लोग यमो नियमों का पालन कर प्रकृति को स्ववश कर सकते हैं और प्रकृति शक्ति से महान् लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

प्राप्त शक्ति को आलस्य प्रमदा वश व्यर्थ खोने से मनुष्य की देह प्राय: रोगी होती है, प्राप्त सम्बन्ध का दुरुपयोग करने से आगे मिलने वाले सम्बन्ध क्लेशदायक होते हैं। हम दूसरों को कष्ट देकर स्वयं अपने लिये उन्हीं कष्टों का मार्ग बनाते हैं। दूसरों की सेवा करते हुए सुख देकर हम अपने लिये सेवक तथा सुखद परिस्थिति तैयार करते हैं। हम दूसरों के बीच में सुख या दु:ख जो कुछ भी बोते हैं वही कई गुना काटते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को आज जो कुछ मिला हुआ दीखता है वह दिया हुआ ही मिला है। जिसने पहले कुछ धन दिया है उसे धन मिला है जिसने पहले दूसरों को मान दिया है अथवा प्यार किया है उसे आज दूसरे से मान तथा प्यार मिल रहा है, जिसने नहीं दिया है उसे नहीं मिल रहा है; बल्कि किसी ने दूसरों को अपमानित किया है, धोखा दिया है, किसी के धन तथा अधिकार का अपहरण किया है तो आज उसी का प्रतिफल उन्हें भोगना पड़ रहा है।

यहाँ पर कोई यह न समझ ले कि 'हम दूसरों का अपमान इसलिये करते हैं, हानि इसलिये पहुँचाते हैं, धोखा इसलिये देते हैं क्योंकि उनके भाग्य में यही देखना बदा है, ऐसा समझ बैठना मूर्खता की बात है।

निस्सदेह किसी की सञ्चित सम्पत्ति चोरी के द्वारा जानी है तब कोई साधु सज्जन चोरी करने तो आयेंगे नहीं, चोरी करने वही आयेगा जिसके मन में विना श्रम के दूसरे का धन अपहरण कर सुखोपभोग की दुष्कामना है वह तो अपनी शक्ति का दुरुपयोग पराया धन अपहरण में करेगा ही तब उसका सम्बन्ध ऐसे ही व्यक्ति से जोड़ा जायगा जिसे किसी दुष्कर्म के फल से धन हानि का दण्ड भोगना है।

जब किसी पुण्य का फल भोगना होता है तब उसी प्रकार के सम्वन्धों का सुयोग हो जाता है; पवित्र देश में, पवित्र कुल में, सज्जन परिवार में जन्म होता है प्रथम से सन्त महापुरुषों का सुसंग सुलभ हो जाता है। और यदि किसी पाप का फल भोगना होता है तब उसी प्रकार का सम्बन्ध तथा कुयोग सामने आ जाता है। प्रत्येक प्राणी के सामने वही आता है जिसके लिये उसने कभी प्रयत्न किया है, जिसकी कामना उसके मन में प्रवल रही है।

अपने आप जो कुछ मिला है यही प्राणी का प्रारब्ध है और मिले हुए का सदुपयोग करना पुरुषार्थ है।

मनुष्य के सामने चाहे जैसी परिस्थिति हो अपने में विवेक वढ़ा कर उसके सदुपयोग से अपने जीवन को कष्टों से, बन्धनों से मुक्त बना सकता है। परिस्थिति भले ही न बदले पर भोक्ता वदल जाता है।

मनुष्य के शुद्ध और अशुद्ध संकल्प अथवा भाव एवं विचार ही उपकारी और अपकारी, लाभ का सुख का सुयोग दिलाने वाले या हानि कष्ट के कुयोग में ढकेलने वाले देव या दैत्यवत् रूपों में काम करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के साथ ऐसी शक्ति है, एक ऐसा आकर्षिक तेज है जिसको लेकर ही वह अपने आस-पास अपने संकल्पों भावों के अनुसार सृष्टि रचता रहता है; यह सृष्टि मनुष्य की कामना, संकल्प, तृष्णा की तरंगों से अनुरूप सुन्दर या असुन्दर बनाती है। मनुष्य के विचारों संकल्पों का सम्बन्ध या तो दैवी शक्ति या आसुरी शक्ति से

रहता है उसी शक्ति की प्रेरणानुसार शुभ या अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति होती है।

हम लोग संकल्प के सांचे में शक्ति को भर कर तदनुसार एक रूप गढ़ लेते हैं वही रूप देव या दैत्य नाम से प्रसिद्ध है; यह अपने बनाये हुए संकल्प रूप सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित रहते हैं और इन्हीं के द्वारा अनायास ही किसी बहुत ऊँचे कार्यों की पूर्ति होती रहती है और किसी में बहुत ही नीच प्रवृत्ति पाई जाती है।

इन संकल्पों की आकृतियों का भण्डार आकाश है इसीलिये हमारे शास्त्रों पुराणों में आकाश निवासी चित्रों को चित्रगुप्त कहा गया है; वैसे यह सब गुप्त चित्र हैं, यही गुप्त चित्र मनुष्य के जीवन में होने वाले कर्मों को स्पष्ट करते हैं। इन्हीं के अनुसार मनुष्य को स्वर्ग सुख तथा नर्क दुःख का अनुभव करना होता है। मनुष्य के जन्मों-जन्मों के कर्म इसी चित्रगुप्त के वही खाते में गुप्त चित्रों के रूप में अंकित हैं। इस चित्रगुप्त के वही खाते को देखने की शक्ति जिस संत महापुरुष में होती है वही जन्मान्तरों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। हम मृत्यु के समय जो 'काम' अधूरा छोड़ते हुए शरीर से अलग होते हैं दूसरे जन्म में वहीं से आरम्भ करते हैं। हमारे एक जन्म की इच्छायें अभिलाषायें दूसरे जन्म में भर पूर शक्ति के साथ पूरी होने के लिये प्रगट होती हैं।

हम अपने मन में शुभ या अशुभ जैसी भी वस्तु बसा लेते हैं, अर्थात् सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उसी का मनन करते हैं, मनन के द्वारा ही हम सबका स्वभाव बनता है, स्वभाव के अनुसार ही हमारे जीवन की गति होती है। जिस रूप का हम चिन्तन ध्यान करते हैं वही रूप हमें प्राप्त होता है।

हम सबको अशुभ, असुन्दर, तुच्छ वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। अपने चित्त को अशुभ असुन्दर में भ्रमण करने से रोकते रहना चाहिये क्योंकि चित्त जिन रूपों में भ्रमण करता है उसी मय बन जाता है, शुभ सुन्दर के संयोग से अशुभ वृत्ति बनती हैं।

किसी भी प्राप्ति की अभिलाषा करना मानो प्रकृति से याचना करना है। हम लोग जो कुछ भी हृदय से चाहते हैं प्रकृति उसी की पूर्ति का मार्ग बनाती है; यद्यपि हम पहले से देख नहीं पाते फिर भी एक दिन अपनी पूर्ति के स्थल पर अपने को पहुँचा हुआ पाते हैं।

हमें अपने हृदय की अभिलाषाओं से, इच्छाओं से अपनी सद्गति या अधोगति का ज्ञान हो सकता है। हम अपने जीवन का उच्चतम लक्ष्य निश्चित करके अपनी गति विधि को बदल सकते हैं। हम पवित्र संग से पवित्र के मनन चिन्तन से अपने चित्त को पवित्र बना सकते हैं।

ऐसा कोई सद्गुण नहीं जो चित्त के शुद्ध होने पर न आ जाये और ऐसा कोई दोष नहीं जिसका सम्बन्ध चित्त की अशुद्धि से न हो।

सन्त वचन—भोग सुखों में तल्लीन चित्त अशुद्ध है भगवान में लीन हुआ चित्त शुद्ध है।

मन की इच्छा पूरी करना ही भोग है, दूसरे के मन की पूरी करना सेवा है, मन को परमात्मा में लगा देना उपासना भक्ति है और मन को मिटा देना ही मुक्ति है।

मानसिक दुष्प्रवृत्तियों, कुभावनाओं को जीतना ही वास्तविक विजय है। अपने सद्गुणों को दोषों के प्रहारों से बचाना स्वाभिमान है इससे भी उत्तम असत् संगाभिमान से अपने को असत रूप न होने देना स्वाभिमान है।

मन को शान्त रखने की कुशलता सबसे बड़ी विद्या है।

अपना सुन्दर निर्माण करने के लिये अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने असुन्दरता को मिटाने के लिये व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ प्रलाप, व्यर्थ चिन्ता तथा शोक में ह्रास होने वाली शक्ति को संयम के द्वारा बचाना चाहिये। जब आवश्यक कार्य न हो तब मौन रहना चाहिए, एकान्त में परमात्मा के ध्यान में होना चाहिये।

दूसरे के शब्दों में निन्दा, स्तुति, मान, अपमान मानना मन की कल्पना ही तो है? इससे अपने मन को रागी द्वेषी न बनाना चाहिये।

सन्त वचन—दैवी सम्पत्ति समता में और आसुरी सम्पत्ति ममता में टिक कर कार्य करती हैं।

हमें दोषों का त्याग करके इन्द्रियों को, मन को संयम में रख कर शक्ति के द्वारा सेवा करते हुए सद्गुणों द्वारा सौभाग्य का निर्माण करना चाहिये।

हम परमार्थ प्रेमियों को अपने में ऐसे गुणों की स्थापना करनी है, जो दूसरों के दोषों से पराजित न हो, उस बल को प्राप्त करना है, जिसमें किसी प्रकार दुर्बलता शेष न रह जाये।

प्रेमी के लिये अपने प्रेमास्पद के प्रति अभेद सम्बन्ध तथा पूर्ण अपनत्व का भाव ही उत्तम सुन्दरता है।

लोभ, मोह, अभिमानादि दोषों से जीवन कुरूप, मलिन हो जाता है।

हम सबके पारस्परिक व्यवहार में जितनी अधिक उदारता अर्थात् सुख देते रहने की आदत बढ़ेगी, जितनी अधिक सहनशीलता आयेगी, दया और क्षमा करते रहने का स्वभाव बन जायगा, निरंतर प्रेममय तथा परमात्मामय मनोवृत्ति हो जायगी उतनी ही शीघ्रता से हम अपने जीवन को सुन्दर शान्तिमय आनन्दमय देख सकेंगे।

अपने को सुन्दर दिखाने के लिये हम लोग शरीर को स्वच्छ रखने का प्रयास करते हैं वस्त्राभूषण द्वारा शृंगार करते हैं, इसके साथ ही यदि अपने मन को सुन्दर दोष रहित नहीं बना पाते तो इस मन की मलिनता के कारण महान् के स्नेह पात्र नहीं हो सकते।

वास्तव में हमें अपने मन के साथ मन को चित्त को बुद्धि और अहं को सुन्दर पवित्र बनाना ही होगा।

संसार में जो कुछ भी पवित्र है, शीतल, स्निग्ध, निर्लिप्त है वही सुन्दर हैं। सुन्दर पवित्र का संग ही सौन्दर्य लाने का साधन है।

वास्तव में अपना सत् स्वरूप ही परम सुन्दर पवित्र है परन्तु उसका ज्ञान न होने के कारण बाह्य शृंगार को सब कुछ मान बैठे हैं।

एक सन्त का वचन है कि 'हमारा जीवन इतना सुन्दर होना चाहिये कि संसार स्वयमेव जीवन को प्यार करे और हमें इतना सुन्दर होना चाहिये कि 'भगवान् स्वयं प्यार करें'। संसार से कुछ न चाहना और संसार के काम आते रहना हमारे जीवन की सुन्दरता है। भगवान् से कुछ न चाहना और भगवान् की प्रसन्नता का निरन्तर ध्यान रखना यही हमारी सुन्दता है।

अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिये असंयम को संयम से, स्वार्थभाव को सेवा से, व्यर्थ विषय चिन्तन को सार्थक चिन्तन से देहाभिमान को आत्म ज्ञान से, द्वेष को प्रेम से, क्रोध को क्षमा से, लोभ को उदारता पूर्वक दान से अहंकार को विनम्रता से, बन्धन को असंग वृत्ति की दृढ़ता से मिटाना होगा।

लोभ, मोह क्रोधादि विकारों के त्याग से हमारा जीवन शुद्ध होता है और दया, क्षमा विनम्रता, सरलता सेवा तथा दान से सुन्दर होता है। यथार्थ ज्ञान में सुन्दरता का दर्शन होता है और निष्काम प्रेम से सुन्दरता का सेवा में सदुपयोग होता है।

हम अपने जीवन में सब कुछ सुन्दर चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सुन्दर नौकर मिले, सुन्दर मित्र मिले, सुन्दर पति मिले, सुन्दर पत्नी मिले—हम ही नहीं प्रत्येक मनुष्य जो कुछ चाहता है सुन्दर रूप में ही पाना चाहता है सुन्दर आकृति ही नहीं सुन्दर प्रकृति भी चाहता है। प्रत्येक मानव को यह संकल्प करना चाहिये कि दूसरे सुन्दर बनें या न बनें, पर मुझे अपने आपको सबके लिए सुन्दर बनाना है। सुन्दर जीवन पुण्यमय जीवन है और असुन्दर जीवन पापमय जीवन है। संयत आचरण किसी भोगी के वश की बात नहीं है, यह तो उसके लिये सम्भव है जो संसार के भोगों से छक गया है,—ऊब गया है, तृप्त हो गया है और आगे बढ़ना चाहता है, अपने-अपने उच्चतम मानवता का विकास करना चाहता है, सुन्दर मानवता में

दिव्यता उतारना चाहता है; प्रेम, शान्ति, सुन्दरता, स्वाधीनता, मुक्ति और भगवत्प्राप्ति के लिये अपना जीवन शक्ति सम्पन्न करना चाहता है। प्रायः अभिमानियों के बीच में ही विनम्रता की पुष्टि होती है, लोभियों के बीच में ही संतोष-लाभ का अभ्यास सफल होता है। यदि सहिष्णु विनम्र और संतोषी बनने में कष्ट होता है तो निस्संदेह जीवन में सद्गुण का सौन्दर्य नहीं उतरपाता है। अपने दोषों से परिचित होना सद्गुण के सुन्दर पथ पर चलने का परिचायक है।

कोई कितना ही गरीब है, निर्धन है, पर अपनी उन्नति के लिये वह उतना ही स्वतन्त्र है, जितना एक सम्राट् हो सकता है। वह अपने भीतर ऐसी मस्ती ला सकता है कि सम्राट् भी उसे पराजित नहीं कर सकता। जब तक किसी व्यक्ति या वस्तु का आश्रय लिया जाता है तब तक निर्भयता और वास्तविक शान्ति की अनुभूति नहीं हो पाती है। सनातन ज्ञान अथवा प्रेम के अनादर से व्यक्ति को वस्तु की दासता में कितना कष्ट उठाना पड़ता है—इस सत्य पर विवेकी मानव को विचार करना चाहिये। यह एक चिरस्मरणीय बात है कि हमें व्यवहारिक क्षेत्र से अपने समस्त दोषों को मिटाना है। दोषों के मिटने पर मानवता की जागृति और दिव्यता के अवतरण का आरम्भ होता है। मानवता से ही दिव्यता की प्राप्ति सम्भव है, असुन्दरता और पशुता से यह नहीं आया करती है। सबसे ऊँचा ध्येय यही होना चाहिये कि हम अपने व्यवहार में सद्गुणों का विकास करें। हमें अपने जीवन के लिये दोषों की नहीं, सद्गुणों की आवश्यकता है। सद्गुणों के विकास से ही जीवन सुन्दर होता जाता है। यदि कोई क्रोध में आगे बढ़ता है तो हमें क्षमा में आगे बढ़ना चाहिये, कोई अपने आप में दोष-ही-दोष बढ़ाता है तो हमें अपने भीतर सद्गुणों की वृद्धि करनी चाहिये। सद्गुणों की वृद्धि से जीवन निःस्वार्थ, प्रेममय और पवित्र तथा सुन्दर होता है।

दोषों का त्याग सद्गुणों की वृद्धि अपने स्वरूप को जान लेने पर ही सम्भव है। 'स्व' के अज्ञान में समस्त दोष पुष्ट होते हैं देहाभिमान रहते विराग त्याग नहीं हो पाता।

आस्तिक का नास्तिक से सन्देश

सुन लो हम यही बताते हैं, तुम किधर हम किधर जाते हैं।
तुम गर्व पूर्वक कहते हो, यह भी मेरा; वह भी मेरा ॥
हम प्रभू से कहते 'तू ही तू' यह भी तेरा वह भी तेरा।
तुम अहमिति हम गति पाते हैं॥ सुन लो हम० ॥
तुम बन्धन तोड़ नहीं सकते, तन धन के अभिमानी होकर।
हम सब कुछ समझ रहे उनका इसलिये तत्वज्ञानी होकर ॥
अपने को मुक्त बनाते हैं॥ सुन लो हम०।
तुम सुख के कारण दुख पाते, मिटती है मन की भ्रान्ति नहीं।
हम सुख दुःख को मिथ्या समझें, दिखती है कहीं अशान्ति नहीं ॥
अपना कर्त्तव्य निभाते हैं॥ सुन लो हम० ॥
हम जिस प्रकाश में देख रहे, तुम मान रहे हो रात वहां।
तुम जहाँ वस्तुओं से चिपटे, सुनते न हमारी बात वहाँ ॥
हम बार बार समझाते हैं॥ सुन लो हम०।
तुम जिसको अपना समझ रहे, अपने संग सदा न रख पाते ॥
हम प्रेमी हैं उस प्रियतम के, जो क्षण भी दूर नहीं जाते,
हम पथिक जिसे नित गाते हैं॥ सुन लो हम० ॥

मन का नियन्त्रण

हम सब लोग कभी कभी मन की बहुत निन्दा करते हैं, मन को ही अपने बन्धनों का दुःखों का कारण ठहराते हैं, मन पर क्रोध करते हैं उसे पकड़ने का, दण्ड देने का, मार डालने का प्रयत्न करते हैं उस समय हम लोग यह देखना भूल जाते हैं कि मन को दण्ड देने में उसे मार डालने का प्रयत्न करने में जों दुख होता है वह मन को होता है या हमको ही हो जाता है। यदि मन को दुख होता है तो हम अपने को दुखी मान कर संयम की, वन्धन की दण्ड की, विध में ढील क्यों करते हैं और यदि हमको दुख होता है तो मन को दोषी क्यों ठहराते हैं।

वास्तव में मन कोई ऐसी सचेतन सत्ता नहीं है जो हमारे साथ हमें परतन्त्र पराधीन बनाने के लिये लगा दी गयी हो; जो अपनी रुचि के अनुसार हम पर शासन करती हो। मन हमारा ही एक यन्त्र है, हथियार है, जिसका हम संसार के भोग सुखों का आस्वादन करने के लिये उपयोग करते हैं, जहाँ तक अनुकूलता रहती है वहां तक सुखी होते हैं, प्रतिकूलता में दुखी होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ हम देखते सुनते स्पर्श करते स्वाद लेते हैं उसे मन से ही स्वीकार करते हैं। मन के द्वारा ही हम जो कुछ अपना मान लेते हैं उसी का मनन करते हैं। अथवा मन में जो कुछ रख लेते हैं उसी से हमारा सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध ही अथवा केवल स्वीकृति ही बन्धन है।

जिस प्रकार मन हमारा हथियार है उसी प्रकार बुद्धि भी हमारे साथ है। मन से मानना होता है बुद्धि से जानना होता है। मानना ही मन से पकड़ना है और जानना ही पकड़े हुए को देखना है। मान कर हम रागी द्वेषी बनते हैं, जान कर ही हम त्यागी और

प्रेमी होते हैं। हम सबको चाहिये कि जिसे सुन सुन करके अपना मान कर रागी द्वेषी बने हैं उसी को जानें, जानने का अर्थ पकड़े हुए को देखना, इस देखने को ही ज्ञान या जानकारी कहते हैं।

जिन वस्तुओं को तथा व्यक्तियों को हम सबने अपना मान रक्खा है उसी को जब बुद्धि दृष्टि से देखते हैं अर्थात् जब हमें पकड़े हुए का ज्ञान होता है तब यह कुछ भी अपना प्रतीत नहीं होता वरन् सब मिला हुआ दीखता है और सुख दुख कल्पित प्रतीत होता है।

असत्य का विनाशी का ज्ञान होने पर उसे अपना न मानना ही राग के त्याग का साधन है। और सत्य अविनाशी को जानने के पश्चात् अपने से अभिन्न अनुभव करना ही प्रेम की पूर्णता का उपाय है।

अविवेकी लोगों के साथ रहकर हम सुन-सुन कर जिसे अपना मानते हुए मोही, लोभी, अभिमानी बनते हैं, ज्ञानी महापुरुषों के संग रहकर उसी सब कुछ को अपना न मानते हुए हम निर्मोही, निर्लोभी, निरभिमानी हो सकते हैं।

मानने वालों ने 'यह भी तुम्हारा है, यह भी तुम्हारा है' यह सुना-सुना कर हमें मनाया है और जानने वालों ने 'यह भी तुम्हारा नहीं, यह भी तुम्हारा नहीं, कह कर जनाया है।

मन से मान कर हम सब लोग जिस बन्धन में पड़े हैं बुद्धि से जानकर उस बन्धन से मुक्त हो सकते हैं, मन को व्यर्थ कोसने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

वास्तविक ज्ञान उसे कहा जाता है कि संसार को जानकर भोग सुखों से विरक्ति हो जाय और परमात्मा का अथवा सत्य का जानना यही है कि उससे अनुरक्ति हो जाय।

सब कुछ परमेश्वर का जानकर, अपना कुछ न मानकर, जो कुछ मिला है, जैसी परिस्थिति है, उसका सदुपयोग करने से वासनाओं, कामनाओं के त्याग से मन शान्त हो जाता है। सन्त ने कहा है कि :—

बीती हुई घटनाओं का मनन करने से, आगे की चिन्ता न करने से जो कार्य सामने हो, उसे पूरा मन लगाकर करने से भी मन एकाग्र हो जाता है। संसार से, निराश होने से, किसी से सम्बन्ध न रखने से मन अचञ्चल अवस्था को प्राप्त होता हैं। जो कोई अपना मन अपने प्रेमास्पद को दे देता है अथवा किसी से भी राग-द्वेष नहीं रह जाता, तब भी मन शान्त हो जाता है।

जहाँ तक वासना कामना है, इच्छाएँ हैं, वहाँ तक मन शान्त नहीं हो सकता। चल के साथ मन का सम्बन्ध रहने से चञ्चल रहता है, अचल का योगानुभव करने से मन अचल होता है—यह संत की अनुभूति है।

मन के रथ में बैठ कर जो बाजार में भ्रमण कर रहा है, वह तो थकेगा ही, वही मनोरथी है, मनोरथी की चाह का पता तो बाजार में चलता है। भोग सुखों की चाह रखने वाला, मन के रथ में बैठ कर दौड़ता रहता है, चाह रहते चञ्चलता नहीं मिट सकती।

हम लोगों को चाहिये कि चाह को या तो धर्म-पूर्वक भोग से तृप्त करें या फिर ज्ञान बल से चाह का त्याग करें अथवा तप के द्वारा नष्ट कर दें तभी निस्संकल्पता प्राप्त होती है—यह सन्त का वचन है।

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कैसे रहि सकै रवि रजनी इक ठाम॥'

जिस मन से कामना मिट जाती है उस मन में भगवान् निवास करते हैं, वही मन परमात्मा का योगी होता है।

मन के द्वारा हम सुख-दुःख का भोग करते हैं, बुद्धि-विवेक से हम सुख-दुःख की सीमा को देख सकते हैं।

हम सबको मन के ही संयोगी न बने रहकर बुद्धि-योगी होना चाहिये, परन्तु जब भोगों में आसक्त हैं, ऐश्वर्य तथा मान चाहते हैं तब तक बुद्धि योगी नहीं हो सकते, क्योंकि भोगों में असक्ति रहने तक राग, भय, चिन्ता, स्पृहा ही बुद्धि को स्थिर नहीं होने देती। जब हम कछुआ की भाँति इन्द्रियों को समेट सकेंगे, तब बुद्धि स्थिर होगी।

यदि प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए प्रसन्न रह सके, तो इससे भी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बुद्धि के स्थिर होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान होता है और उस ज्ञान के अनुसार कर्तव्य धर्म का ध्यान रहता है तभी मन की स्वच्छन्द अभ्यस्त गति पर अधिकार प्राप्त होता है। बुद्धि में विवेक प्रबल होने पर हम मन से ही काम न लेकर बुद्धि से काम लेते हैं। प्रत्येक कर्म बुद्धि-विवेक-पूर्वक करना यही मन का नियन्त्रण है।

हम मन के जीवन हैं, हम से ही मन की गति है, हमने ही मन का संग किया है, जैसे हम हैं, वैसा ही हमारा मन है। हम मन के द्वारा जिस वस्तु या व्यक्ति को अपना मान लेते हैं और मनन करते हैं यह मन उसी वस्तु के रँग में रँग जाता है। हम सुखोपभोग का मूल्य बढ़ाते हैं, तभी मन सुखोपभोग में सन जाता है, उसका परिणाम दुःख देखकर हम मन से घृणा करते हैं, इसमें मन का क्या दोष ? क्योंकि पहले हमने ही तो मन को सुखोपभोग में संलिष्ट होने (सनने) दिया है। हम अपने हाथों को कीचड़ में तारकोल में, किसी तेल में, डुबा दें फिर चाहे हाथों को शीघ्र निकाल लें या देर में किन्तु हाथों में वह कीचड़ या तेल तो लग ही जायगा, उसे ही नासिका के समीप लाकर हम दुर्गन्ध का अनुभव करें और हाथ को दोषी ठहरायें तो हमारी ही भूल सिद्ध होगी, इसी प्रकार आज सुखोपभोग, विषयवासना तथा विविध कामना में सने हुए मन को जब बुद्धि दृष्टि से देखते हैं तब उसे ही दोषी मानते हैं पर अपनी आरम्भिक भूल को नहीं देखते। हम लोग सुख चाहते हैं और मन के द्वारा इच्छित सुख का भोग करते हैं। मन का इतना ही काम है इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। यदि हम लोग चाहते हैं कि सुख के पीछे दुख न भोगें तो इसका विवेक मन से नहीं, बुद्धि से होगा।

मन केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर पकड़ने का काम करता है बुद्धि पकड़े हुये को देखने का कार्य करती है इसलिये मन से बुद्धि को सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ कहा है।

यदि हम बुद्धि युक्त होकर सत्यानुरागी हो जायें तो हमारा मन भी विषय से विरागी हो जायगा। यदि हम असत् जड़ से विमुख होकर परमात्मा के भक्त हो जायें तो हमारा मन भी मुक्त हो जायगा। हमारे साथ ही मन का वन्धन है। जैसे हम हैं वैसा ही हमारा मन है। मन का स्वरूप न समझने से वह चालिस सेर का है अर्थात् चालिस शेरों के समान वह अभिमानी कामी है किन्तु मन को जान लेने पर वह किसी तोल में न टिकेगा। 'मन से काम लेना बन्द कर दो मन मुक्त हो जायगा, या फिर सार्थक कार्यों को पूरा करो व्यर्थ काम मन को न सौंपो, मन शान्त हो जायगा। जिनसे राग है उनका त्याग करो, जिनसे द्वेष है उनसे प्रेम करो मन पवित्र हो जायगा, यह महापुरुषों की सम्मति है।

कुछ उपदेशक मन से लड़ने की उसे दण्ड देने की सम्मति देते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि मन से लड़ना छाया से ही लड़ना है मन को दण्ड देना छाया को पीटना है मन तो तुम्हारी छाया है। छाया की ओर न दौड़ो प्रकाश की ओर देखो तो छाया तुम्हारे पीछे हो जायगी।

गई सो गई अब राखु रही को

अब से शुभ करना सीख लो। दोषों से डरना सीख लो।
सुख की तृष्णा त्याग करो तुम, अब न किसी से राग करो तुम।
निज मन को आधीन बना, स्वाधीन विचरना सीख लो।।

लोभ मोह अभिमान हटाओ, निज को सरल विनम्र बनाओ।
प्राप्त सुखों से दुखियों की अब झोली भरना सीख लो।।

करो सार्थक श्रम से तन को; और दान देकर निज धन को।
वीर बनो कष्टों के सम्मुख धीरज धरना सीख लो।।

अपना सा दुख सबका जानो, परम आत्मा को पहिचानो।
अवसर पर दीनों दलितों के बीच उतरना सीख लो।।

इस जग को भवसागर कहते, सब बहते ज्ञानी तट गहते।
तुम सुख दुख की धाराओं में निर्भय तरना सीख लो।।

विधि की भूल न होने पाये, देखो जीवन व्यर्थ न जाये।
पथिक जगत में जन्म न हो अब ऐसा मरना सीख लो।।

ध्यान

हम अनेकों भावुक व्यक्ति परमेश्वर के नामों का जप अथवा कीर्तन करते हुए बहुधा यह प्रश्न किया करते हैं कि ध्यान में मन किस प्रकार स्थिर हो, ध्यान कैसे दृढ़ हो ?

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें यह ज्ञात हुआ कि वास्तव में ध्यान करना नहीं पड़ता वह तो स्वतः ही होता है, जो किया जाता है वह कर्म है। आसन लगा के नेत्र बन्द करके बैठना ध्यानाभ्यास भले हो जो कि मन की वृत्ति निरोध के लिये आवश्यक है परन्तु यह ध्यान नहीं है।

ध्यान के लिये केवल प्रेम होना आवश्यक है। प्रेम की प्रगाढ़ता में स्वतः ही ध्यान होता है । प्रेम की प्रगाढ़ता के लिये ज्ञान आवश्यक है।

'जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होत नहिं प्रीती।'

जिसे हम जान लेते हैं कि अपना है। उसी के प्रति अपनत्व का भाव दृढ़ होता है। अपनत्व के भाव में ही प्रीत प्रबल होती है।

वास्तव में संसार की जितनी भी देहादिक वस्तुयें हैं वे अपनी नहीं हैं, उन्हें तो हम सब लोग अविवेक पूर्वक अपना मान लेते हैं और उन मानी हुई वस्तुओं, व्यक्तियों से मोह करते हैं मोहवश ही हम अपने मन में अपनत्व के भाव से सम्पत्ति, अधिकार तथा सम्बन्ध बसाये हुए हैं, इनका ध्यान इतना दृढ़ है कि यही परमात्मा के ध्यान में बाधक हैं।

हम लोग प्रश्न करते हैं कि परमेश्वर का ध्यान कैसे करें, यह न पूछ करके प्रश्न तो यह करना चाहिये कि संसार का चिन्तन ध्यान किस प्रकार छोड़ें। क्योंकि जगत की सुखद वस्तुओं का ध्यान ही जगदाधार परमात्मा का ध्यान नहीं होने देता।

मन की विषयाकार वृत्ति का मिटाना ही ध्यान योग की सिद्धि है। विषयों की चाह मिटा कर इन्द्रियों को मौन करने से मन निर्विषय अवस्था को प्राप्त होता है। जो किसी को अपना आधार नहीं बनाता जो किसी का आधार नहीं बनता उसी को ध्यान योग की सिद्धि मिलती है।

संकल्प रहित होकर मन को मौन करने से, सभी अभिलाषाओं को मिटा कर बुद्धि को मौन करने से ध्यान योग पूर्ण होता है।

जो जिसका प्रेमी होता है उसके बिना उसे चैन नहीं पड़ता, संसार का कुछ पाकर जिसे चैन आ जाता है वह विरागी तथा सत्यानुरागी नहीं हो सकता।

भगवान् के ध्यान योग के लिये जिसका त्याग नहीं कर पाते उसी के प्रति हमारी प्रगाढ़ प्रीति समझनी चाहिये।

परमेश्वर के प्रेमी हम तभी अपने को कह सकते हैं जब उनके अतिरिक्त और कहीं भी चैन न लें, साथ हो जब हमारी दृष्टि दृष्य का आश्रय छोड़कर स्थिर हो जाय, प्राण स्वाभाविक सम हो जाय चित्त निराधार होकर शान्त हो जाय, निष्कामता के द्वारा पूर्ण परितृप्त का अनुभव होता रहे—सन्त-मत में यही योगी की ध्यान सिद्धि है।

जब तक हम लोग संयोग तथा भोग से पूर्ण विरक्त न होंगे तब तक ध्यान योग नहीं होगा। विवेक दृष्टि से संयोग का अन्त वियोग तथा भोग का अन्त रोग देखकर ही संयोग, भोग से हम विरक्त हो सकते हैं। विचारपूर्वक दुःख की कमी रहने तक पूर्ण विरक्ति नहीं होती।

जब हम लोग अपने मन से वस्तुओं, व्यक्तियों का चिन्तन ध्यान त्याग देंगे तभी यह मन परमात्मा के ध्यान में लीन हो सकेगा। जिसका ध्यान होगा उसी की प्राप्ति होगी।

सुन्दर रूप का ध्यानी सुन्दर रूप पाता है, सद्गुणों का ध्यानी सद्गुणी होता है, जिसके ध्यान में कोई रूप नहीं रहता कोई गुण

भी नहीं रहता वह सर्व के प्रकाशक परमात्मा में ही अपने को नित्य अनुभव करता है।

जब तक हमें कोई दुःख दाता दीखता है, और उसी का हम चिन्तन करते हैं, जब तक हमारा मन व्यग्र रहता है, खिन्नता रहती है तब तक सुखद पदार्थों का ही अधिक ध्यान दृढ़ समझना चाहिये।

जब तक हम लोग असत्य भाषण करते हैं, किसी को सताते, दुःख देते हैं, संग्रह के लिये चिन्तातुर रहते हैं, क्रूरता, कठोरता युक्त व्यवहार करते हैं तब तक दुखद पदार्थों का ही अधिक ध्यान है, यह दोनों ध्यान छोड़ने योग्य हैं।

जब हम बुद्धि पूर्वक विचार करते हुए सुख दुःख को अपने मन की मान्यता समझ कर कल्पना समझ कर सम रहते हैं, जब हम दोषों के त्याग में इच्छाओं की निवृत्ति में परम तृप्ति का अनुभव करते हैं तथा जब हम अपने आप में संतुष्ट रहते हैं, किसी से बदला लेने का विचार छोड़ देते हैं, जब हम सर्वत्र गुणों को ही देखते हैं ग्रहण करते हैं, जब हम असत्य के प्रकाशक सत्य को ही सर्वत्र देखते कहते सुनते हैं, जब हम अपने सुख के लिये किसी प्राणी को दुख न देने के लिये, उसका अहित न करने के लिये सावधान रहते हैं, और जब हम सबका हित चाहते हुए सर्व हितकारी प्रवृत्ति में प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करते हैं तब सिद्ध होता है कि हमारे जीवन में धर्म का ध्यान है।

जब हमारे अन्तःकरण से अशुभ, शुभ के प्रति राग द्वेष निकल जाता है, पाप पुण्य की सीमाओं से हम ऊपर उठ जाते हैं, जब हमारा जीवन बन्धनों से मुक्त हो जाता है, आवेग उत्तेजना, विकारों के लिये स्थान नहीं रह जाता–यही निर्विकार सत्य के ध्यान का महत् फल है।

जब हम लोग बीते हुए का मनन न करें आगे की चिन्ता न करें और वर्तमान में अधिक से अधिक सुन्दर सुखद संयोग पाकर कहीं भी चैन न लें, यही सत्य अथवा परमेश्वर के ध्यान की तैयारी है।

वास्तव में परमानन्द परमात्मा है परन्तु उसका हम पर तब तक प्रभाव नहीं पड़ता जब तक ज्ञान न हो और ऐसा ज्ञान का भी कोई अर्थ नहीं दीखता जब तक हृदय से सम्बन्ध न हो, सम्बन्ध तभी होता है जब आवश्यकता होती है। आवश्यकता का ज्ञान या तो पूर्ण दुखी को होता है या सच्चे गुरु भक्त को होता है। आवश्यकतानुसार परमेश्वर से सम्बन्ध का ज्ञान होने पर स्वतः ही चिन्तन ध्यान होता रहता है, जो किया जाता है उसका नाम कर्म है जो होता रहता है उसी को चिन्तन ध्यान कहते हैं।

हम तुम क्या, कितने महारथी इस जग में आकर चले गये।
निज कर्मों से ही नर्क स्वर्ग की राह बना कर चले गये॥
हम सबको भी चलना ही है, चलने की तैयारी करलो।
जो पहले से तैयार न थे पछता पछता कर चले गये॥
जब सब कुछ छुट जानाही है सबको ममता का त्याग करो।
मूरख तो मैं, मेरो, कह के, मद मान बढ़ा कर चले गये॥
हम सबको यही देखना है कुछ अशुभ न हो शुभ ही शुभ हो।
लाखों अविवेकी शक्ति समय को व्यर्थ गवाँ कर चले गये॥
अब अपना कुछ न मान करके सब कुछ परमेश्वर का जानो।
वह पथिक धन्य, जो भक्तिमुक्ति का सत्पथ पाकर चलेगये।

आकृति और प्रकृति

'गुरु पशु, नर पशु, नारि पशु, वेद पशू संसार।
मानव सोई जानिये जाहि विवेक विचार॥'

ज्ञान प्रकाश में हमें यह भी ज्ञात हुआ कि मनुष्य की पहिचान केवल आकृति से ही नहीं वरन् उसकी भीतरी प्रकृति को देख कर हुआ करती है। किसी आकृति को ही मानव नहीं कहते। प्रकृति को न जानकर केवल आकृति मात्र पर मुग्ध होने वाले सहस्त्रों व्यक्ति धोखा खाते हैं।

कभी-कभी असुन्दर आकृति में सुन्दर प्रकृति का दर्शन मिलता है और कभी-कभी देखने में सुन्दर आकृति है परन्तु बहुत ही अशुद्ध मलिन प्रकृति; क्रूर, कठोर हिंसक प्रकृति का परिचय मिला करता है।

एक सुन्दर चरित्रवान् विरक्त विवेकी सर्व-हितैषी पुरुष प्रकृति से उत्तम श्रद्धेय होते हुए भी आकृति से सुन्दर सुघर नहीं दीखते और जो कोई प्राय: आकृति से सुन्दर दीखते हैं उनमें से बहुत व्यक्ति भीतरी प्रकृति से अधिकाधिक स्वार्थी, अभिमानी, लोभी, मोही, ईर्ष्यालु, द्वेषी प्रतीत होते हैं।

आकृति में तो वैश्या भी सुन्दर होती है परन्तु प्रकृति अथवा स्वभाव की मलिनता सभी के लिये असन्तोषप्रद है, इसके विपरीत दिशा में एक पतिव्रता, सती, साध्वी नारी आकृति से कदाचित् असुन्दर भी हो परन्तु प्रकृति की सुन्दरता किस हृदय को प्रिय नहीं होतीं?

ऊपर से अपने को सुन्दर दिखाने के लिये तो अनेकों बालक भगवान् राम तथा भगवान् श्री कृष्णचन्द्र का रूप बनाते और उनकी लीला खेलते रहते हैं परन्तु प्रकृति बनाने में भला कितने कौतुकी समर्थ हैं? सो तो सम्भवत: कोई मिलेगा ही नहीं।

हमें अपना निरीक्षण करते हुए यह देखना है कि आकृति तो मानव की है पर प्रकृति में किस स्वभाव की प्रधानता है ? जहाँ तक भोग की रुचि प्रबल है अर्थात् क्षुधा लगने पर, नींद आने पर, भोग की रुचि प्रबल होने पर मर्यादा का ध्यान न रख कर इच्छा की पूर्ति करना यह पशु प्रकृति के लक्षण हैं।

धर्म-मर्यादा तथा कर्तव्य का ध्यान रखते हुए अपने अधिकार के भीतर नींद भूख एवं अन्य भोग की रुचि पूर्ति करना और अपने हित के लिए प्रयत्न करते रहना मानवी प्रकृति के लक्षण हैं।

बुद्धि के होते हुए दूसरों के दुःख की परवाह न करके अपनी रुचि पूर्ति में सन्तुष्ट होना धन मान, भोग के लिये न करने योग्य कर्मों को भी करते रहना शास्त्र सन्त सद्गुरु, भगवान् को न मानना यही आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं।

धन, मान, भोग, अथवा सांसारिक वैभव ऐश्वर्य से विरक्त रह कर सर्व प्राणियों के हित में संलग्न रहना, अपने सुख के लिये किसी को दुःख न देना, सर्वदा अभय निश्चिन्त; शान्त, सर्वदा प्रसन्न रह कर सबको प्रसन्न रखना यह मानव आकृति में दैवी प्रकृति के लक्षण हैं।

हमें ध्यान देकर देखना चाहिये कि मानव आकृति में मानवी प्रकृति का कितना विकास हुआ है, दैवी प्रकृति के कितने लक्षण मिलते हैं, साथ ही आसुरी प्रकृति कितनी प्रबल है और पशु प्रकृति कहाँ-कहाँ प्रधान बन रही है।

आकृति का दर्शन तो बाह्य नेत्रों के द्वारा होता है प्रकृति का ज्ञान बुद्धि विवेक द्वारा होता है। आकृति को स्वच्छ रखना पशु-पक्षी भी जानते हैं किन्तु प्रकृति को अथवा भीतर के स्वभाव को शुद्ध रखने का विवेक पशु-पक्षी में नहीं होता वह तो मानव में ही होता है।

मानव की आकृति पशु जीवात्मा को केवल आकृति चिन्तन से ही मिल जाती है, कोई पशु अपने मालिक को पहिचानता है, तो प्रकृति से नहीं वरन आकृति से ही पहिचानता है। मानव आकृति का स्नेह

उसे आकृति प्रदान करता है इसीलिये जो जीवात्मा पशु शरीर छोड़ कर मानव आकृति में आता है उसमें आकृति के पीछे पशु प्रकृति की इतनी अधिक प्रवलता होती है कि सज्जनों के संग से सदुपदेश से भी सहज में परिवर्तन नहीं होता। मानव शरीर में अनेकों जन्म बिता लेने के बाद क्रमशः मानवी गुणों का विकास होता है; मनोमय कोष विज्ञान मय कोष, जितने अधिक बलवान होते जाते हैं उतनी ही अधिक भाव तथा विचार करने की शक्ति बढ़ती जाती है; सद्गुण एवं ज्ञान के प्रति ग्रहण शीलता बढ़ती जाती है; यही कारण है कि गुरुजनों का उपदेश एक समान अनेकों व्यक्ति सुनते हैं पर एक समान न तो समझ पाते हैं, न आज्ञानुसार साधन-पथ में चल पाते हैं, मानव आकृति में यही प्रकृति भेद है।

हम लोग अपने वाह्य रूप को सरलता से स्वच्छ कर लेते हैं, उसका श्रृंगार भी कर लेते हैं परन्तु भीतरी अन्तःकरण को निर्मल बनाते और उसका सुन्दर सद्गुणों से सजाने का यदि प्रयास नहीं करते तो यह मानवी बुद्धि का घोर अनादर है। पशु में अपने स्वभाव को सुन्दर बनाने की बुद्धि नहीं है, पशु को अपने दोषों का, भूलों का ज्ञान नहीं होता पर, मनुष्य को होता है फिर भी सुखासक्ति वश अपने दोषों को, भूलों को दूर नहीं करते।

जिस प्रकार हम लोग—चाहे नारी हों या नर हों–अपनी देह को अपवित्र नहीं रहने देते कहीं भी अशुद्ध घृणित वस्तु के लग जाने पर जल से स्वच्छ करते हैं किसी वस्त्र में भी यदि दूषित वस्तु लग जाती है तो उसे भी यथाशक्ति शीघ्र ही धोकर साफ करते हैं, उसी प्रकार हम सबको चाहिये कि अपने मन में क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेषादि, विकार आने न दें, यदि धोखे से इन दोषों का स्पर्श हो जाय तो शीघ्र ही इन्हें अपने अन्तःकरण से दूर कर दें तभी हम सबकी प्रकृति सुन्दर पवित्र हो सकती है परन्तु सुखोपभोग के अन्त में दुःख का दर्शन किये बिना भोगों से वैराग्य नहीं होता।

आकृति की सुन्दरता पर कोई कामी भोगी ही संतुष्ट होते हैं प्रकृति की पवित्रता पर तो मनुष्य की कौन कहे, देवता ही नहीं स्वयं भगवान् भी रीझ जाते हैं।

संसार में जितने भी भक्त, सन्त, महापुरुष नाम से विख्यात हैं जिनकी स्तुति-पूजा मानव समाज के द्वारा होती आई है आज भी हो रही है वह आकृति की सुन्दरता से नहीं बल्कि अन्तर स्वभाव विचार प्रेम की सुन्दरता, पवित्रता के कारण जगत् पूज्य हो रहे है।

यदि हमें समाज के बीच में रहना है तो असुन्दर अपवित्र हो कर रहना भारी अपराध है सुन्दर पवित्र होकर रहना पुण्य है। हमारे जीवन में जितने भी कष्ट हैं दुःख हैं प्रतिकूलतायें हैं वे सब अपने असुन्दर अपवित्र स्वभाव, व्यवहार, विचार के ही कारण हैं। हम दूसरों की सुन्दरता पवित्रता देखकर कुछ देर के लिये भले ही प्रसन्न हो जायें परन्तु स्थाई स्वतन्त्र प्रसन्नता हमें तभी सुलभ होगी जब हम अपनी आकृति के साथ अभ्यन्तर प्रकृति को भी सुन्दर पवित्र बना लेंगे।

हम सुन्दर अति सुन्दर पवित्र को देख सकते हैं उसके गीत गाते रह सकते हैं परन्तु स्वयं सुन्दर पवित्र हुए बिना उस सुन्दर का योगानन्द नहीं प्राप्त कर सकते। हमें इतना सुन्दर पवित्र होना है कि सौंदर्य निधान प्रभु स्वयं हमें प्यार करने लगे ऐसा होना भी प्रभु की कृपा से ही सम्भव है।

पशु प्रकृति में देहाभिमान रहता है, आसुरी प्रकृति में गुण तथा शक्ति का अभिमान रहता है। मानवी प्रकृति में भक्त होने का सेवक होने का अभिमान रहता है। दैवी प्रकृति में किसी प्रकार का अभिमान नहीं रहता है।

पशु प्रकृति में शरीर तथा इन्द्रिय व्यापार की प्रधानता होती है, आसुरी प्रकृति में कर्म के साथ मनोभावों की प्रधानता, मानवीय प्रकृति में क्रिया के ऊपर भाव, तथा भाव के ऊपर बुद्धि-विचार, विवेक

की प्रधानता और दैवी प्रकृति में भाव विवेक के ऊपर निष्काम प्रेम की प्रधानता होती है।

पशु प्रकृति को दम से, आसुरी प्रकृति को शम से, मानवी प्रकृति को विचार से और दैवी प्रकृति को विनय प्रेम से स्ववश करना चाहिये। इन्द्रियों को जीत लेना पशु प्रकृति को स्ववश करना है, मन को स्ववश रखना ही आसुरी प्रकृति पर विजयी होना है; बुद्धि को समस्थित बना लेना ही मानवी प्रकृति को सार्थक कर लेना है और सर्वाश्रय त्याग कर निर्भय तथा चिन्ता मुक्त होकर अखण्ड शान्ति एवं सत्य का अनुभव करना यही प्रकृति को पार करना है।

दिव्यता मानवता में ही उतरती है असुरता तथा पशुता में नहीं। मानवता ही दिव्यता को खोजती है पशुता दानवता नहीं।

संत वचन—जहाँ कोई दोष नहीं होते, जिसमें कोई भूल नहीं होती वह मानव जीवन नहीं वह तो ईश्वरीय जीवन है। जहाँ दोष है भूले हैं किन्तु उनका ज्ञान नहीं, वह भी मानव जीवन नहीं। जहाँ दोषों का भूलों का दुख पूर्वक ज्ञान है और दोषों तथा भूलों के रहते चैन नहीं आ रहा है यहीं मानव जीवन है।

दोषों को भूलों को जानना और उन्हें मिटाने का सतत् प्रयत्न करना ही मानवता है। हमें सन्त ने समझाया है कि सभी दुर्बलताओं दोषों की निवृत्ति मानव जीवन की माँग है।

मानवी प्रकृति सद्ज्ञान एवं सद्गुणों को अपनाने से परिपुष्टित होती है, दैवी प्रकृति समत्व पर और आसुरी प्रकृति वस्तु व्यक्ति के ममत्व पर टिकती है। जहाँ सभी प्रकार की शक्ति का सदुपयोग है, सद्विवेक का आदर है वहीं मानवता है।

'खान पान सुख भोग में पशु भी परम सुजान।
काह अधिकता मनुज की जो न भजे भगवान्॥'

अपना आहार प्राप्त कर लेने में, हानि तथा नाश की आशंका से भयातुर होने में तथा विषय भोग में निद्रा के रस लेने में पशु और मनुष्य बराबर है किन्तु मनुष्य में यदि कोई विशेषता है तो धर्मज्ञान

की है, धर्म-ज्ञान से रहित मनुष्य आकृति से मनुष्य होते हुए भी प्रकृति में पशु के समान है। एक सन्त के मत में—त्याग, ज्ञान तथा प्रेम को पूर्णता ही मानव जीवन की पूर्णता है, इन की कमी ही मानव जीवन में कमी है; इसका कारण राग है, अज्ञान है और द्वेष है।

मानव जीवन में जितना ही भोगों की अधिकता होती है उतनी ही जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आती है।

मानव जीवन तो नित्य जीवन के योगानुभव के लिये मिला है। सब प्रकार की चाहों का अंत करना मानव जीवन का सदुपयोग करना है।

पशु प्रकृति में भोग-सुखों के प्रति आसक्ति प्रबल रहती है।

आसुरी प्रकृति में मान और धन की कामना प्रबल रहती है।

मानवी प्रकृति में ज्ञान और मोक्ष की अभिलाषा प्रबल रहती है। दैवी प्रकृति में त्याग, दान प्रेम की पूर्णता होती है।

हम प्रकृति के भोगी बनकर ही पतित हुए हैं अब प्रकृति को त्याग प्रेम सेवा के द्वारा सुन्दर बनाकर पुरुषोत्तम के योगी हो सकते हैं।

हमारा अमूल्य प्रेम किसका मूल्य होना चाहिये ?

'तुलसी तैं झूंठो भयो करि झूठे सँग प्रीति।
है साँचो हो साँचु जब गहै राम की रीति॥
कहा होत देखे कहे सुनि समझे सब रीति।
तुलसी जब लग होत नहिं सुखद-राम-पद प्रीति॥
दुर्लभ झाँकी प्रेम की जिन झाँकी ते धन्य।
उपजत बिनसत जगत में जड़ पशु सम सब अन्य॥'

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें यह भी विदित हुआ कि हमारे लिये वही व्यक्ति या वस्तु सुन्दर मनोहर है, जिसका हम अपने से अधिक मूल्य बढ़ा देते हैं।

एक समय ऐसा भी था, जब हमने छोटे-छोटे रंगीन खिलौनों का मूल्य बढ़ा दिया था, तब वे खिलौने हमें स्वर्ण-मुद्राओं से भी अधिक सुखद सुन्दर प्रतीत होते थे, उनके न मिलने पर हम उसी प्रकार दुःखी होकर आँसू बहाते थे, जिस प्रकार आज बहुत बड़ी सम्पत्ति के लुट जाने पर या प्रिय का वियोग हो जाने पर रोते-बिलखते हैं।

आज हम लोग खिलौने के लिए नहीं दुःखी होते, उनके टूटने-फूटने पर शोक नहीं मनाते, क्योंकि उनका मूल्य हमारी दृष्टि में अब नहीं रह गया है; अब हम दूसरी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा चुके हैं और उनके संयोग में और वियोग में उसी भाँति हर्षित शोकित होते हैं, जिस प्रकार बाल्यावस्था में खिलौने के पीछे हर्षित-शोकित होते थे।

हम माता-पिता, स्त्री-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-सुहृद आदि किसी सम्बन्धी के संयोग का जितना अधिक मूल्य बढ़ा देते हैं, उतना ही अधिक उससे सुख की प्रतीति और वियोग में दुःख की प्रतीति होती है। जितना अधिक किसी प्रकार की सम्पत्ति-लाभ का मूल्य बढ़ा देते हैं, उतना ही अधिक उसकी हानि की वेदना होती है, इसी प्रकार जितना ही अधिक हम किसी अधिकार तथा सम्मान-प्राप्ति का मूल्य बढ़ा देते हैं, उतना ही अधिक अधिकार के छिन जाने पर या अपमान होने पर दुःख की अनुभूति होती है। ज्ञान की कमी के कारण हम अपने सुख का और दुःख का कारण किसी न किसी वस्तु को या व्यक्ति को मानते हैं। इसी आधार पर सुखदाता मान कर वस्तु व्यक्ति के रागी और दुःखदाता मानकर द्वेषी बनते हैं, परन्तु यह नहीं समझ पाते कि बाहरी वस्तु या व्यक्ति सुखदाता या दुःख-दाता नहीं है, बल्कि हमने ही जिसका मूल्य अपने से अधिक बढ़ा

दिया है, उसका संयोग सुखद प्रतीत होता है। यदि मूल्य घटा दें, तो वह कुछ भी सुखद न रह जायेगा और तब दुःख की प्रतीति भी न होगी।

जब तक हम अपने स्वरूप के महत्व को नहीं जानते, तभी तक देहादिक पदार्थों का मूल्य बढ़ाकर इनकी कल्पित सुन्दरता पर मोहित होते हैं, इसी प्रकार जब तक हम परमेश्वर की सत्ता की महत्ता नहीं जानते, तभी तक संसार का मूल्य बढ़ाकर उसके शासन को स्वीकार कर परतन्त्र बने रहते हैं।

परमेश्वर की सत्ता की महत्ता को जान लेने पर ही हम संसार के मोह ममता से मुक्त हो सकते हैं और अपने स्वरूप की महिमा को जान कर हम देह इन्द्रिय मन की दासता से छूट सकते हैं।

हमें जो प्रेम मिला है, वह सनातन सत्य से मिला है, उस प्रेम के द्वारा यदि हम सनातम सत्य के गुणों को ही देखें तो सदा तृप्त रह सकते हैं, परन्तु ऐसा न करके हम असत्य को सत्य, अनित्य को ही नित्य, 'पर' को ही 'स्व' मान लेते हैं।

एक पुत्र को माता-पिता बहुत ही प्रिय हैं, एक पुरुष को अपनी प्रेमिका अथवा प्रेमिका को अपना प्रियतस बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है, एक शिष्य अपने गुरु से सबसे अधिक प्रीति करने लगता है, एक सेवक को अपना स्वामी सर्वोपरि श्रेष्ठ दीखता है, वह इसीलिये कि परस्पर सम्बन्ध के पीछे, देखने की दृष्टि के पीछे प्रेम है। अब देखना यह है कि वास्तव में किसी न किसी प्रकार की सुन्दरता से ही प्रेम होता है। वह सुन्दरता चाहे वाह्य रूप की हो या किसी गुण की हो अथवा स्वभाव की हो, संसार में जो कुछ भी सुन्दर है वह सत्य से ही प्रकाशित है। सुन्दर गुणों का, सद्भावों का, सद्ज्ञान का कभी नाश नहीं हो सकता, आकृति भले ही बदल जाती है, पर संसार में सद्गुण सद्भाव सद्ज्ञान सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान ही रहते हैं। जिस दया को, जिस कोमलता; सरलता, उदारता, नम्रता, प्रसन्नता, मधुरता को किसी व्यक्ति में, पुत्र, पति,

पत्नी, भाई, मित्र आदि सम्बन्धियों में देखकर मोहित होते हैं उन सम्बन्धियों के शरीर भले ही नष्ट हो जायँ पर सद्‌गुण, सदभाव नहीं नष्ट हो सकते। अतः हम सबको किसी सम्बन्धी के वियोग में शोक न मानना चाहिये क्योंकि जिन सद्‌गुण, सद्‌भाव, सद्‌ज्ञान के कारण वह सम्बन्धी प्रिय था वह सभी सद्‌गुण सद्‌भाव सभी सुन्दर मनोहर आकर्षक बातें अपने में ही प्रकाशित की जा सकती हैं परन्तु अविवेक वश हम सनातन सद्‌गुणों सद्‌भावों के प्रति प्रेम न करके असत् नाम रूप आकृति के प्रति प्रेम करने लगते हैं और जब उसका वियोग होता है तब शोक मनाते हैं, बिलाप करते हैं, जिस प्रकार कोई प्रकाश का प्रेमी वल्ब के टूट जाने पर प्रकाश की सत्यता तथा उसे प्राप्त की जाने वाली स्वाधीनता को भूल कर विलाप करता है—यह कितनी मूर्खता है। प्रेम होना चाहिये सद्‌गुणों, सद्‌भावनाओं तथा विवेक से, न कि शरीर से, क्योंकि शरीर तो किसी समय नष्ट हो सकता है पर सद्‌गुणों का नाश नहीं होता।

हम अपने प्रिय सम्बन्धी के वियोग में यह सोच-सोच कर रोते दुःखी होते हैं कि हमारा प्रिय सम्बन्धी हमारी बहुत सेवा करता था, बहुत मीठे वचन बोलता था, वह हमारे ऊपर बहुत ही प्रेम करता था हमें अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु दे देने में कहीं लोभ न करता था, वह हमारी कटुता-कठोरता को भी सह लेता था इत्यादि बातों को स्मरण करके ही तो हम दुःखी होते हैं ? यहाँ पर यही प्रश्न है कि वह सम्बन्धी हमें क्यों अति प्रिय लगता है, तो इसका उत्तर यही है कि उसमें सुन्दर गुण थे, सुन्दर स्वभाव था, सुन्दर विवेक था। अब यहां पर हमें वही सद्‌प्रेरणा मिलती है कि हम लोग भी अपना स्वभाव सुन्दर बनायें, सद्‌गुणों को ही पुष्ट होने दें। दूसरों के सद्‌गुणों से अच्छे स्वभाव से हमें कुछ देर को सुख भले ही मिल जाये पर शान्ति तो दोषों के त्याग से सद्‌गुणों के व्यावहारिक अभ्यास से मिलेगी। जिस सुन्दरता पर हम मुग्ध होते हैं यदि वही सुन्दरता हममें आ सकती है तो अवश्य ही उसे अपने में लाना चाहिये। हम

उसी से प्रेम करें जो हमें स्वतन्त्रता पूर्वक प्राप्त हो सकता है, जिसे हम सदा अपने संग रख सकते हैं। हम शरीर आदि सांसारिक वस्तुओं को स्वाधीनता पूर्वक सदा अपने साथ नहीं रख सकते, दैवी गुणों को, ज्ञान विवेक को, स्वतन्त्रता पूर्वक अपने में धारण कर सकते हैं। हम विनम्र, दयालु, क्षमाशील, सन्तोष, धीर, गम्भीर, विवेकी हो सकते हैं।

हमारा प्रेम तुच्छ विनाशी वस्तुओं के लिये न होना चाहिये जो हमसे किसी समय भी हटाया जा सकता है, उसकी प्राप्ति में हमें आनन्द न मानना चाहिये; हमें सांसारिक वस्तुओं का लोभी मोही अभिमानी न होना चाहिये। सत्य से नित्य चेतन तत्व से प्रेम होना चाहिये, यह तभी सम्भव है'जब 'स्व' का ज्ञान हो।

सन्त वचन—

'विद्या वित्त स्वरूप गुण सुत दारा सुखभोग।
नारायण हरि भक्ति बिन यह सब ही हैं रोग॥
प्रेम छुटावै जगत को प्रेम मिलावै राम।
प्रेम करै गति और ही लै पहुँचे हरिधाम॥

संसार के जितने भी सुख या दुख हैं वह हमारी मान्यता के अनुसार प्रतीत होते है, ज्ञान की कमी के कारण हम इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानते नहीं, बल्कि जैसा सुनते हैं। वैसा ही मान लेते हैं इसी कारण जो असत् दृश्य का प्रकाशक सत्य है उसे जाने बिना दुःख-सुख के ही बन्धन में जीवन नष्ट करते रहते हैं।

अपने जीवन के साथ मिले हुए प्रेम को हम जिस वस्तु के साथ जिस व्यक्ति के साथ, जिस अवस्था तथा जिस परिस्थिति से मिला देते हैं वही सुखद सुन्दर प्रतीत होने लगती है। इस प्रेम की महिमा ही ऐसो है कि इसे साथ लेकर जिस शब्द को, जिस स्पर्श को, जिस रूप को अथवा गन्ध को या जिस रस को देखा जायगा, स्वीकार किया जायगा वही सुन्दर न होने पर भी सुन्दर मनोहर प्रतीत होगा

संसार में कुछ भी सुन्दर आकर्षक नहीं है यह प्रेम ही महान है जिसके योग से सभी कुछ सुन्दर प्रिय प्रतीत होता है—यह प्रेम सभी को सुलभ है।

इस प्रेम को जहां कहीं से हटा लिया जायगा वही असुन्दर नीरस दुःखद प्रतीत होगा।

संसार में न कुछ सुखद है न दुःखद है, प्रेम का योग ही सुखद है। ओर वियोग ही दुःखद है; यदि हम अपने प्रेम को अपने से भिन्न वस्तु में आबद्ध न करें तो कभी वियोग का अनुभव हो ही नहीं सकता; जब हम अपने प्रेम को उस वस्तु के साथ जोड़ देते हैं, जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, तब हम उसी समय दुःखी होते हैं, जब उस सम्बन्धित वस्तु का वियोग होता है; चूंकि हमने उस वस्तु के साथ प्रेम को जोड़ दिया है इसलिए वस्तु के अभाव में हम अपने में प्रेम का भी अभाव-सा अनुभव करते हैं तभी व्यथित होते हैं। यदि हम अपने प्रेम को ऐसी वस्तु से सम्बन्धित कर लें, जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता, कभी वियोग नहीं हो सकता, तो हमें कभी दुःख की वेदना नहीं देखनी पड़ेगी।

हमारे पास प्रेम ही तो अमूल्य निधि है और उसे हम निस्सार सुख के लिये, विनाशी वस्तुओं में लगाते रहते हैं, उसी प्रेम के योग से नीरस भी रसमय प्रतीत होता है, जो अपना नहीं है वह अपना दीखता है।

प्रेम ही वह महान् मूल्य हैं, जिसे हम चाहे भोग सुखों के लिये लगाते फिरें, चाहे योगानन्द प्राप्त कर लें। इस प्रेम को चाहे हम विनाशी वस्तुओं से मिला कर मोह के रूप में, लोभ के रूप में, अभिमान के रूप में परिणत कर दें। चाहे इस विनाशी देह तथा सम्पत्ति एवं अधिकार से हटा कर हम अपने आप में शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर लें।

हमें अपने जीवन में जो सबसे महान् कार्य करना है वह यही है कि अपने प्रेम को सांसारिक देहादिक संयोगों से मुक्त कर लें और सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो जायें; इस महान् कार्य को हमारे अतिरिक्त दूसरा कोई कर ही कैसे सकेगा, क्योंकि जो दोष हमने बनाया है, वह हमको ही मिटाना है और हम जब चाहें, तो सहज ही मिटा सकते हैं; सन्त सद्गुरु तथा प्रभु-कृपा हमारे इस महान् कार्य की पूर्ति में सदा सहायक हैं पर हम उनकी कृपा का तिरस्कार करते रहते है।

अब हमें इस बात को सदा स्मरण रखना है कि मन से हम उसी का स्मरण करते हैं, चित्त में उसी का चिन्तन होता है; बुद्धि से हम उसी के विषय में अधिक विचार करते हैं और हृदय में उसी का ध्यान रहता है, जिसका हमने प्रेम पूर्वक मूल्य बढ़ा रक्खा है।

अब हमें यही निर्णय करना है कि जब किसी वस्तु का अपने से अधिक मूल्य बढ़ा देने से हो उसका स्मरण-चिन्तन-ध्यान सहज ही होने लगता है और जिसका स्मरण, चिन्तन, ध्यान होता है, उसी से सम्बन्ध दृढ़ होने के कारण तद्रूपता प्राप्त होती है, तब हमें चाहिये कि यदि अपने से अधिक मूल्य बढ़ायें, तो विनाशी वस्तु का नहीं, बल्कि अविनाशी सत्य का मूल्य बढ़ायें, देह का नहीं, बल्कि चिन्मय स्वरूप आत्मा का मूल्य बढ़ायें; जो हमसे दूर है उसका नहीं बल्कि जो हमसे कभी भिन्न नहीं होता, उसका मूल्य बढ़ायें। परिवर्तन शील पराश्रित सुख का नहीं, बल्कि शाश्वत सत्य परमानन्द का मूल्य बढ़ायें, हम जिसका मूल्य बढ़ायेंगे उसी से तन्मयता प्राप्त करेंगे।

सत्य का 'स्व' का मूल्य बढ़ाना तभी सम्भव है जब सत्य का 'स्व' का ज्ञान हो इस ज्ञान के लिये दृढ़ संकल्प की परमावश्यकता है।

सावधान

जीवन यूं ही बीत न जाये

जग में पशु भी खाते-सोते, स्वार्थपूर्ति में सकुशल होते।
वह मानव क्या ? भोग सुखों में, ही जो शक्ति गँवाये ।।

मित्रो सावधान अब रहना, जो कुछ दुःख आये वह सहना।
धैर्य-पूर्वक सह लेना ही मन का तप कहलाये ।।

कभी किसी को कष्ट न देकर; हित प्रद सेवा का व्रत लेकर।
निज कर्तव्य निभाते चलना, पर अभिमान न आये ।।

कभी न अपना लक्ष्य भुलाना, अपने को निष्काम बनाना।
जो कि कामना-युक्त हृदय है, प्रेम नहीं कर पाये ।।

तन से श्रम, मन से संयम हो, बुद्धि विवेकी उर उपशम हो।
पथिक यही सुन्दर जीवन है, जो प्रभु के मन भाये ।।

भूल की भेंट

'आपुहि मद को पान करि आपुहि होत अचेत।
तुलसी विविध प्रकार को दुख उतपति एहि हेत॥'

ज्ञान प्रकाश में ही हमने यह भी देखा कि जीवन में जितनी भी हानियाँ हैं वह सब भूल की भेंट हैं। भूल की भेंट कभी-कभी बड़ी-बड़ी हानियों के द्वारा, विविध कष्टों के द्वारा चुकानी पड़ती है। भूल होने के अनेकों कारण होते हैं, उनमें से मुख्य कारण अपने परमाधार परमात्मा से विमुख होना अथवा उसे भूल कर असत्य परिवर्तन शील जगत् दृश्य के सम्मुख होना है। इस प्रथम भूल की भेंट में जाने कितने जीवन देने पड़ते हैं।

भूल का मूल अज्ञान है; अज्ञान ज्ञान की कमी को कहते हैं। अपने स्वरूप को न जानना, संसार के कार्य और कारण को न जानना तथा सत्य परमात्मा को न जानना ही अज्ञान है; ज्ञान की कमी है।

अपने आप को, जगत् को और जगदाधार को जानना ही ज्ञान की पूर्णता है। ज्ञान की पूर्णता ही में असत् सुखों से भोगों से विरक्ति और सत्य के प्रति ही पूर्ण अनुरक्ति होती है तभी भूलों की निवृत्ति मिलती है।

सत्य को भूल कर हम निस्सार सुखों के रागी बने हैं, देहाभिमानी, तथा धन के लोभी, सम्बन्धियों के मोही बने हैं।

लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषों के कारण ही अनेकों अपराध पाप बनते रहते हैं, समस्त दुःख अपने अपराधों, पापों के कारण प्रतीत होते हैं।

यदि हम सत्य परमात्मा को न भूलें अथवा अपने सत्स्वरूप को न भूलें जगत-सुखों की नश्वरता को न भूलें, तो हमसे कहीं भूल हो ही नहीं सकती और फिर हानि के लिये जीवन में कोई स्थान ही

नहीं रहता। जहाँ हानि की आशंका नहीं, वहाँ भय नहीं और दुख भी नहीं।

जब सत्य को न भूलेंगे तब स्वधर्म को, स्वकर्तव्य को भी न भूलेंगे; स्वधर्म स्वकर्तव्य को भूल कर ही हम पर-धर्म का तथा दूसरों के कर्तव्य का, आश्रय लेते हैं, यही हमारी परतन्त्रता का, पराधीनता का कारण हैं; इससे अनेकों दुःख देखने पड़ते हैं।

सत्य वही है जो हमारा कभी त्याग नहीं करता, उसी को जान कर फिर कभी न भूलना ही स्वधर्म है। इस स्वधर्म में बुद्धि को स्थिर कर लेना संसार से कुछ न चाहते हुए संसार की सेवा करते रहना स्वकर्तव्य है।

जिसमें कोई भूल ही नहीं होती वह भगवान् है, जिसमें भूल तो होती है पर उसका ज्ञान नहीं होता वह पशु है, जिसमें भूल होती है भूल का प्रायः ज्ञान भी होता है परन्तु भूल होने का दुःख नहीं होता वह असुर हैं; जो अपने में भूलों को जान कर उन्हें दूर किये बिना चैन नहीं लेता वही मनुष्य है।

जो मनुष्य जितना ही अधिक अहंकारी है, अभिमानी है, मोही, लोभी, द्वेषी तथा क्रोधी एवं सुखासक्त है, उतना ही अधिक भूला हुआ है।

अपने परम लक्ष्य को न जानना, जो कुछ तन, धन या किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त है उसका सदुपयोग न करना यह बुद्धि के स्तर की भूल है; माता, पिता, पत्नी, पति, पुत्री आदि के प्रति हितकारी कर्तव्य न पूरा करना केवल उनसे अपनी रुचि की पूर्ति करते रहना, उनके अधिकार का ध्यान न रखकर अपने अधिकारों को मानते रहना यह मन के स्तर में अशुद्ध भाव की भूल है; शरीर में बल के रहते हुए कर्तव्य कर्मों में परिश्रम न करना आलस्य में समय नष्ट करना यह देह के स्तर की भूल है।

यदि हम दुखों तथा बड़ी-बड़ी हानियों से अपने को बचाना चाहते हैं तो पहुँचे हुए सन्त का यह सन्देश है कि हमें अपने शरीर को

परिश्रमी बनाना चाहिए, जहाँ तक हमारे सामने अवकाश है अपने काम अपने हाथों कर लेना चाहिये, कभी-कभी हम एक गिलास पानी भी अपने हाथ से उठाकर नहीं पीते, दूसरों से काम लेते लेते वैसा ही अभ्यास दृढ़ हो जाता है, आलस्य बढ़ता जाता है; श्रम की कमी से शरीर रोगी अति क्षीण या अधिक स्थूल हो जाता है, स्नायुजाल निर्बल हो जाते हैं, परावलम्बन की अधिकता से चिड़-चिड़ापन, क्रोध, स्वभाव में कठोरता वाणी में कटुता बढ़ जाती है, इसके कारण अनेकों अपराध बनते रहते हैं।

श्रमी का शरीर प्राय: बलवान निरोग रहता है वह अधिकारियों की सेवा में दक्ष रहता है। श्रमी सबको प्रिय हो सकता है और पुण्य का भागी बनता है।

जो व्यक्ति अपने स्नान के लिए दो चार घड़े पानी नहीं भर सकता, अपनी धोती नहीं धो सकता, इसी प्रकार के छोटे-छोटे काम अवकाश तथा शक्ति के रहते हुए नहीं कर सकता वह अवश्य आलसी है, शारीरिक बल का दुरुपयोग करने वाला है, यह शरीर द्वारा होने वाली भूल है और इसकी भेंट असमय रोग तथा अन्याम्य कष्टों द्वारा चुकानी पड़ती है।

आज सहस्रों विद्यार्थी युवक तथा युवती बालिकायें शरीर से श्रम न करने के कारण ही दुर्बल, रोगी तथा आलसी हैं, जिनके द्वारा सेवा लेने की, काम कराने की आशा करना दूर रहा उलटा उन्हीं के काम करने पड़ते हैं और धनी घरों में प्राय: डाक्टर, वैद्य बुलाते रहना पड़ता है।

जो बालक विद्यार्थी कुछ परिश्रम करते हैं, नित्य कुछ दौड़ धूप के कार्य करते हैं, जो बालिकायें घर में पानी भरना, झाड़ू देना, बर्तन मलना, कुछ चक्की पीसना इत्यादि शारीरिक श्रम करती हैं उनके शरीर सेवा के लिये दृढ़ और निरोग हृष्ट-पुष्ट दीखते हैं। जो आलसी हैं वही अधिक विलासी होता है।

श्रम के साथ सन्त जन मन को संयमी होने की सम्मति देते हैं जिसका शरीर श्रमी होगा वही संयमी हो सकेगा; शरीर से श्रम और मन में संयमी होना शक्ति के लिये आवश्यक है; जो मन में संयम नहीं रख पाता उसी की इन्द्रियों में विशेष चञ्चलता रहती है।

असंयमी व्यक्ति चरित्रवान् नहीं होगा उसकी शक्ति कहीं शब्द में, कहीं रूप में, कहीं स्पर्श, कहीं स्वाद में, रसासक्त होने के कारण निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। असंयमी मन इतना चञ्चल रहता है कि व्यवहार में अनेकों भूलें होती रहती हैं। स्मृति शक्ति अधिक क्षीण होती है, इसीलिये समय पर कार्य विधिपूर्वक पूरे नहीं होते, कभी वस्तुओं के रखने में भूल होती है, कभी उठाने में भूल होती है, कभी लेने तथा देने में भूल होती रहती है; इसके कारण वस्तुओं की हानि, धन-हानि, मान-हानि उठानी पड़ती है। असंयमी मन जिसे स्मरण रखना चाहिए उसे विस्मरण कर देता है और जिसे विस्मरण रखना चाहिए उसे बार-बार स्मरण करके रोगी, द्वेषी चिन्तिन खिन्न होकर व्यर्थ समय शक्ति नष्ट करता है।

असंयमी की शक्ति का प्रवाह अधोमुखी रहता है। संयमी की शक्ति की गति ऊर्ध्वमुखी होती है; जो अपनी वाणी को संयम में रखता है, किसी की निन्दा नहीं करता है, व्यर्थ वार्ता नहीं करता, झूठ भी नहीं बोलता और कठोर कटु वचन नहीं बोलता वह संयमी पुरुष है।

जो व्यर्थ वार्ता नहीं सुनना चाहता, किसी की निन्दा सुनना अपराध मानता है जो सार्थक बोलता है, और आवश्यक सुनता है; जो व्यर्थ चेष्टा नहीं करता, सार्थक काम पूरा मन लगा कर करता है, जो आलस्य से बैठे रहना; लेटे रहना पसन्द नहीं करता, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, दुराचार से दूर रहता है वही संयमी पुरुष है—ऐसे पुरुष की बुद्धि बलवती होती है। श्रम, संयम के साथ चित्त को विरागी रखने की भी सन्त तथा शास्त्र की सद्प्रेरणा है क्योंकि संयमी में इतना विचार बल जाग्रत हो जाता है कि उसे संसार के विषय सुख परिणाम

में महा दुखदाई दीखने लग जाते हैं। संयम की पूर्णता चित्त के विरागी होने पर होती है। रागी चित्त सत्यदर्शी नहीं होता। सारी बुराइयों की जड़ राग है, राग के कारण ही चित्त अशुद्ध रहता है, चञ्चल रहता है, रागी चित्त बुद्धि को स्थिर नहीं होने देता। विराग हुए बिना परमार्थ द्वार में किसी का प्रवेश नहीं होता।

जिस प्रकार श्रम की कमी में क्रिया सम्बन्धी भूलें होती हैं, संयम की कमी में विधि युक्त सम्बन्धी भूलें होती हैं। उसी प्रकार विराग की कमी में भाव सम्बन्धी भूलें होती हैं।

सुख के प्रति अथवा सुखद वस्तुओं व्यक्तियों के प्रति राग की प्रबलता में भाव पवित्र नहीं रहता स्वार्थ प्रबल रहता है। अपने सुख लाभ की ही चिन्ता रहती है यही भाव की अशुद्धि है। कठिनता से संयम के द्वारा सञ्चित की हुई शक्ति रोगी चित्त होने के कारण आगे चल कर भोगमय प्रवृत्ति में क्षीण हो जाती है। भाव सम्बन्धी भूल होने के कारण परलोक के लिये कुछ नहीं बन पाता। राग वश बहुत बड़ी-बड़ी भूलें होती हैं।

श्रम की कमी से जो भूलें होती हैं उनका परिणाम शरीर को भोगना पड़ता है, असंयम से जो भूलें होती हैं उनका परिणाम परिवार को भोगना पड़ता है किन्तु राग वश जो भूलें होती हैं उनका परिणाम जाति को समाज को भोगना पड़ता है; जितनी बड़ी भूल होगी उतनी बड़ी हानि, उतना ही अधिक अपराध, पाप बढ़ेंगे इसी-लिये हम सबको भयानक भूलों से बचने के लिये विचारपूर्वक भोगों से विरागी होना चाहिये। वैराग्य होने पर ही त्याग सार्थक होता है।

विरागी होने के लिये बुद्धि का विवेकी होना परमावश्यक है, विवेक न होने के कारण ही हम लोग अपने दैनिक कृत्यों के परिणाम को नहीं देख पाते, जिस सुख में मोहित होकर वस्तुओं व्यक्तियों के रागी बनते हैं उसके परिणाम में आने वाले निश्चित दुःख को नहीं देखपाते।

विवेक जीवन हित के लिये बहुत ऊँची सम्पदा है, विवेक सन्त संग से सुलभ होता है और सन्त संग भगवान् की कृपा से मिलता है और

कृपा उसी पर होती है जो भगवान् का हृदय से स्मरण करता है। प्रत्येक मनुष्य उलझन में पड़ा है, कोई कर्तव्य धर्म को सुलझा रहा है, कोई सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ है, कोई आर्थिक संकट से बोझिल होकर दब रहा है परन्तु विवेक न होने तक सभी अशान्त हैं और भूल पर भूल करते जा रहे हैं जिनका दुष्परिणाम अभी भोगते हैं और आगे भी भोगेंगे।

विवेक की कमी के कारण अशिक्षित ही नहीं शिक्षित भी भूलते हैं, अपने को साधु, महात्मा, गुरु, संन्यासी, उपदेशक कहलाने वाले भी भूलते हैं और अपने अनुयायियों को भुलाते हैं।

ये उपदेशक, धर्माचार्य, शिक्षक यदि भूल न करते होते तो आज तीर्थों में, मन्दिरों में, बड़े-बड़े धार्मिक मेलों में, कुम्भ के पर्वों में बड़ी-वड़ी हानियाँ क्यों उठानी पड़तीं। इतना भ्रष्टाचार न बढ़ता।

हम गुरुजनों की, उपदेशकों की, धर्माचार्यों महन्तों की शरण में जाते हैं शान्ति प्राप्त करने; हम तीर्थों में पर्वों में, कुरुक्षेत्र, हरद्वार, नासिक, प्रयाग में जाते हैं पाप से मुक्त होने, ज्ञान प्राप्त करने परन्तु प्राय: वहाँ से थकावट लेकर, कभी-कभी रोग लेकर, अशान्ति लेकर हानि उठा कर लौटते हैं और कभी-कभी तो कुछ धर्म प्रेमी लौट भी नहीं पाते। यह भूल का परिणाम नहीं तो क्या है ? और इस प्रकार की भूल विवेक की कमी के कारण ही होती है ?

जिन महात्माओं के दर्शन से पाप, ताप, दीनता, दोष मिटने चाहिये उन्हीं के दर्शन करते हुए उनकी चरण रज उठाते हुए सैकड़ों व्यक्ति कुचल-कुचल कर मर जायें—यह अविवेक-जनित भूल का दुष्परिणाम नहीं तो क्या है ? अब भले ही हमको समझाया जाय कि तीर्थ में मरने से मुक्ति मिलती है, सद्गति होती है अथवा अपने कर्म का भोग है, यह सब बातें मन को मनाने में सहायक अवश्य हैं पर इतना तो स्पष्ट दीखता है कि विवेक की कमी के कारण लोग बड़े-बड़े आडम्बर बनाते हैं, अपने शरीर को विविध वेष से भूषित करते हैं, अपने भिन्न-भिन्न संघ बनाते हैं, फिर एक दूसरे से सजावट बनावट

में तुलना करते हैं, और किसी से अपने को श्रेष्ठ मानकर अभिमानी बनते हैं, कहीं अपने को न्यून छोटा मानकर दीन बनते हैं। जिस प्रकार एक दूकानदार अपनी दूकान को सजाता है और ग्राहकों की ओर सतृष्ण दृष्टि से ताकता रहता है, साथ ही आया हुआ ग्राहक हाथ से निकल न जाय इसके लिये बड़ी कुशलता-पूर्वक युक्तियों से काम लेता है, उसी प्रकार कुछ उपदेशक लोग धनी-मानी पुरुषों की ओर घात लगाये प्रतीक्षा करते रहते हैं।

जिस प्रकार उपदेशक विवेक की कमी में इतनी दीनता, दरिद्रता का परिचय अपनी मनः स्थिति द्वारा देते हैं; मान माया की तृष्णा-वश संसार की दासता से नहीं निकल पाते उसी प्रकार श्रद्धालु विश्वासी धर्म भीरु साधक भी विवेक की कमी के कारण महात्माओं गुरुजनों की सेवा में श्रम करते हुए वास्तविक लाभ न उठाकर ज्यों के त्यों लोभी, मोही, अभिमानी बने रहते हैं सन्त महापुरुषों से जो महान् लाभ उठाना चाहिए वह नहीं ले पाते, बल्कि उल्टे बड़ी-बड़ी हानि का दुख भोगते हैं, ठगे जाते हैं। लेकिन जो सच्चे आत्मकल्याणार्थी हैं, जो सन्त महात्माओं से केवल विवेक ज्ञान तथा साधन समझकर दोष मुक्त होना चाहते हैं वही धोखा नहीं खाते।

विवेकी बुद्धि परिणामदर्शी होती है इसलिये विवेकी पुरुष संयोग में ही वियोग को देखते हैं, सुखी दशा में ही उसका अन्त दुःख में देखते हैं, जीवन में ही उसका अन्त मृत्यु में देखते हैं और अन्त आने के प्रथम ही वे संयोग से तथा सुख से एवं मिले हुये जीवन से विरागी होकर सबका सदुपयोग करते हैं; उन्हीं से भल नहीं होती तभी ऐसे महापुरुष जीवन मुक्त कहलाते हैं।

विवेक की कमी में ही मानव मिले हुए को अपना मानकर संयोग का मोही, धन का लोभी, अधिकार का अभिमानी और अप्राप्त का कामी बनता है। इन दोषों के कारण भल पर भूल करता चला जाता है; कालान्तर में पूर्ण दुखी होकर विचार करता है और विवेकी होकर भूल से मुक्त होता है तभी परम शान्ति प्राप्त करता है।

विवेक की नाप शब्दों द्वारा नहीं होती वह तो दोषों के त्याग द्वारा, शुभ सुन्दर के दान द्वारा अपने आप आये हुए कष्टों के बीच में सहिष्णुता द्वारा प्रतिकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा, निष्काम सेवा के द्वारा विपत्ति के अवसर पर गम्भीरता तथा धैर्य द्वारा होती है। संसार में विवेक का बल सब बलों से श्रेष्ठ है फिर उससे श्रेष्ठ कृपा का ही बल सिद्ध होता है।

आज हम लोग पारस्परिक सम्बन्धियों में, समाज में, जाति में, देश में, प्रचारकों, सुधारकों, संघों में उपदेशकों, साधुओं, संन्यासियों तक में भी जो कलह, द्वेष, ईर्ष्या देखते हैं वह सब विवेक की ही कमी में हैं, अथवा धन मान भोग की चाह के पीछे है।

जितनी भी भूलें होती हैं वह विवेक की कमी में या विवेक का आदर न करने से होती हैं फिर भी बहुत कम बुद्धिमान ऐसे मिलते हैं जो अपनी हानि का कारण भूल तथा भूल का कारण सत्य से विमुखता और विमुखता का कारण सद्विवेक की कमी या उसका अनादर समझते हों।

सन्त सद्गुरु के संग से यदि हमें विवेक न प्राप्त हो तो अन्य कुछ भी प्राप्त होने से हम भूलों से, दोषों से नहीं बच सकते। सन्त सद्गुरु के संग से भले ही हमें और कुछ भी नहीं मिले पर यदि सद्विवेक प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन का तथा प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए हम निश्चिन्त अभय हो सकते हैं। इसीलिये हमारी बुद्धि विवेकी होनी चाहिये कि हम अपने भाग्य को न कोसते रह कर प्राप्त शक्ति के द्वारा जीवन को सुन्दर बना सकें।

जहाँ विवेक हीन प्राणी अपनी रुचि की पूर्ति में सुख मानता है, अपूर्ति में दुख मानता है, संयोग तथा लाभ में हर्षित होता है, वियोग एवं हानि से शोकित होता है, अनुकूल से राग करता है, प्रतिकूल से द्वेष करता है वहीं पर विवेक युक्त मानव सम रहता है, शान्त रहता है, केवल अपने कर्तव्य पर दृष्टि रखता है, किसी दूसरे को सुखदाता,

दुखदाता न मान कर सब अपने ही कर्मों का फल भाग जानता है, वह सुख को बाँट कर भोगता है, दु:ख को अकेले चुप रह कर सह लेता है। विवेक आलस्य, प्रमाद को स्थान नहीं देता, अभिमान से सावधान रहता है, कहीं भी समय व्यर्थ नहीं खोता तथा शक्ति का कहीं भी दुरुपयोग नहीं करता, अपने सुख के लोभवश किसी को दुख नहीं देता।

करोड़ों की सम्पत्ति हो, सैकड़ों दास-दासियाँ हों, अंगरक्षक सहस्रों सैनिक हों, शरीर में हाथियों का सा बल हो, समाज में ऊँची उपाधियाँ मिली हों पर मिले हुए के तथा जीवन के सदुपयोग का विवेक न हो तो सारी प्राप्त शक्ति उपभोग में ही नष्ट हो जायगी किन्तु भय चिन्ता दु:ख से मुक्ति तथा स्वाधीन शान्ति न प्राप्त होगी।

विवेकहीन होने के कारण ही प्रिय संयोग पाकर हम लोग मोही हो जाते हैं। सम्पत्ति पाकर उदार न होकर उसके द्वारा दान न करते हुए हम लोभी होजाते हैं। अधिकार पाकर उसके द्वारा दीनों-दुखियों की सहायता रक्षा न करके हम अभिमानो भोगी बन जाते हैं। विवेक हीन होने के कारण ही हम वियोग में लाभ की हानि होने, अधिकार छिन जाने या अनादर होने पर अत्यधिक दुखी होते हैं और अपने दोषों भूलों को न देखकर दूसरों को दुख का कारण ठहराते हैं।

सद्विवेक होने पर हम सब कुछ शुभ, सुन्दर परमेश्वर से मिला हुआ जानते हैं। उसके द्वारा हम सेवा करते हैं उदार, दानी, निरभि-मानी होकर सर्वजन-प्रिय होते हैं।

हम जितनी भी हानियों का दु:ख सहते हैं वह सब सर्वाधार सत्य से विमुख होने के कारण, अपने सत्स्वरूप की महत्ता को न जानने के कारण तथा अपने स्वधर्म कर्तव्य-कर्म में आलस्य प्रमाद, करने के कारण एवं जो कुछ स्मरण रखना चाहिये उसे भल जाने के कारण और जो कुछ भूलजाना चाहिये उसेस्मरण रखने के कारण सहते हैं।

नित्य प्राप्त परमात्मा के स्मरणद्वारा हमें मन की शान्तिके लिये उन बातों को भूल जाना चाहिये जो अशान्त बनाती हैं। हमें छोटी-

मोटी चिन्ताओं को भूल जाना चाहिये। किसी ने अपमान किया है, दु:ख दिया है तो उसे भूल जाना चाहिये। अपने को स्वस्थ रखने के लिये अवस्थता की बातें भूल जाना चाहिये. दूसरों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, दुर्भाव हैं उनसे अनेकों रोग बढ़ते हैं उन्हें भूल जाने में ही हित है। प्रिय स्वजनों के वियोग को भूल जाना चाहिये; जो हानि हो चुकी है, जो कुछ खो चुका है उसे भूल जाना चाहिये; उसे स्मरण करके लाभ ही क्या होगा ?

जो दुख सुख मिल चुके हैं उसकी चर्चा करते रहते भी क्या लाभ होगा ? उसे भूल हो जाना चाहिये; इस समय हम जो कुछ शुभ कर सकते हैं अथवा जो कार्य सामने है उसे पूरा मन लगा कर करना चाहिये।

अशुभ, असुन्दर, अनावश्यक का कथन तथा मनन भूल जाना चाहिये, शुभ सुन्दर आवश्यक को तथा अपने कर्तव्य को स्मरण रखना चाहिये। हम में जो सामर्थ्य आयेगा वह बुद्धि से नहीं आयेगा, बल्कि अभ्यास से आयेगा। अत: शुभ, सुन्दर करने का अभ्यास होना चाहिये; अशुभ असुन्दर अभ्यास का त्याग करना चाहिये। यह सब कुछ की पूर्ति के लिये ही बुद्धि का विवेकी होना परमावश्यक है।

जहाँ से हमारी बुद्धि विवेकी हो जाती है वहीं से हमें सत्य तथा असत्य का, जगत् का एवं जगदाधार का, कर्तव्य, अकर्तव्य का सार्थक का, निरर्थक का भान होता रहता है तभी हमारे हृदय में सत्य के प्रति जगदाधार परमात्मा के प्रति अनुराग प्रबल होता है इसीलिये सन्त हमारे हृदय को अनुरागी होने की प्रेरणा देते हैं।

अनुरागी हृदय को परमात्मा के चिन्तन ध्यान का प्रयत्न नहीं करना पड़ता वह तो स्वत: ही होता रहता है जो भुलाये नहीं भूलता। अनुराग के बिना परमात्मा का योगानुभव नहीं होता। अनुरागी हृदय वही है जिसकी प्रीति सब ओर से सिमिट कर एक परमानन्द परमात्मा में ही लग जाती है, ऐसा हृदय सांसारिक राग द्वेषादि विकारों से मुक्त शुद्ध हो जाता है।

विकार रहित जीवन में अन्तिम अविद्या की गांठ जो अभिमान है वह भी खुल जाती है अर्थात् अहं अभिमान शून्य हो जाता है यहीं पर मानव भूल की सीमा को पार कर जाता है उसके दुखों तथा हानियों का अन्त हो जाता है, हानि होने के लिये कुछ रह ही नहीं जाता—यही सन्त के शब्दों में सुन्दर पवित्र निर्विकार जीवन है।

जब तक संसार में कोई बड़ा छोटा दिखाई देता है तब तक अभिमान और दीनता से हृदय जलता सा रहता है। जो अभिमान से अन्धे व्यक्ति हैं उनके ही अहंकार की सीमा सर्वनाश का भान होता है अन्त में अहंकार का ही नाश होता है सर्वनाश नहीं होता।

हम संसार में मिली हुई वस्तुओं को अपना मान कर जिनके पास उन वस्तुओं की कमी है उनके सामने अभिमानी बनते हैं; गुरुजन हमें यही समझाते हैं कि जब मिली हुई कोई भी वस्तु सदा अपने साथ नहीं रहती तब उसकी प्राप्ति का अभिमान हमें नहीं करना चाहिये, बल्कि परमेश्वर की आज्ञानुसार उसका सदुपयोग करना चाहिये। हम देहाभिमानी हैं तभी तो गुरुजनों को भी देह मान कर ही पूजते रहते हैं और जब हम गुरु बनते हैं तो अपनी देह की ही पूजा कराते हुए सन्तुष्ट होते हैं। वास्तव में न हमें किसी व्यक्ति की दासता में बँधना चाहिये न अपने व्यक्तित्व में किसी को बाँधना चाहिये, स्वयं सत्य की उपासना करना चाहिये दूसरों को भी यही बताना चाहिये।

अभिमान मिटाने में सत्य असत्य का विवेक ही समर्थ है और वह विवेक गुरुजनों के द्वारा प्रभु की कृपा से सुलभ होता है।

अहंस्फुरण ही जीव का स्वरूप है, उस अहं को जो अभिमान होता है कहीं पर देह का, कहीं रूप का, धन का, बल का, विद्या का, कुल का, तप का और त्याग का हुआ करता है।

अभिमान की प्रबलता में बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी, दानी तथा शुभकर्मी जनों का पतन हो जाता है और अभिमान शून्य होने पर पश्चात्ताप करने वाले पापी का उत्थान होता दीखता है।

जब हम किसी भी गुण को समर्थ भगवान् के गुण न जान कर अपने या दूसरे व्यक्तियों से गुण समझने लगते हैं तभी किसी के आगे दीन बनते हैं और किसी को देख कर अभिमानी होते हैं।

जब हम अपने में या दूसरों में जो कुछ भी विशेष गुण देखते हैं उसे भगवान का ही समझते हैं तभी हम अभिमान की सीमा को पार कर जाते हैं।

जब परमेश्वर दयासागर कृपासिन्धु परम उदार पूर्णकाम, सर्वशक्ति मान, परम सुहृद करुणानिधि हैं तब किसी व्यक्ति में जो हमें दया, कृपा, उदारता तथा शक्तिशालिता सुहृदयता आदि गुण विशालता दीखती है वह उस सर्वगुणों के सागर परमाधार परमेश्वर की है।

जब विवेकी बुद्धि द्वारा हमें अपने पास अपना कुछ भी नहीं दीखता, तभी अभिमान का अन्त होता है।

भगवान के नित्य सम्बन्ध को न जानने से और संसार के अनित्य सम्बन्ध को अपना मानने से अभिमान प्रबल होता है। अभिमान का त्याग करना मुनियों के लिये साधु सन्यासियों उपदेशकों के लिये भी कठिन है, अपने-अपने ज्ञान के सेवकाई के गुरुआई के अभिमान के कारण प्रायः दो गुरुओं में उपदेशकों में पंडित विद्वानों में, भीतर से एकता मित्रता नहीं दिखाई देती। जहाँ कहीं मान हानि होती है वहीं पर मत भेद हो जाता है द्वेष चलने लगता है।

यह सन्तों के शब्द हैं :—

'बिरले ही जन सुनत हैं जो कुछ कहत सुजान।
तरने को आधीनता डूबन को अभिमान॥
'कबिरा नवै सो आपको, पर को नवै न कोइ।
घालि तराजू तौलिये, नवैं सो भारी होय॥

वे विशाल हृदय के पुरुष हैं जो सम्मान से विचलित नहीं होते उन्हें ही अपमान का दुःख नहीं होता। अभिमानी को मान के शब्द

सुना के चाहे कुछ करा लिया जाता है। जो मान की रपटन से सम्हलते रहते हैं वे सावधान महापुरुष हैं।

हमारी कितनी बड़ी भूल है; हम यह भी नहीं समझ पाते कि जिन बातों से हमें मान मिलता है वे सब परमेश्वर की ही शक्ति से पूर्ण दीखने वाली बातें हैं या जितने भी ऐसे गुण हैं वे सब ईश्वरीय गुण हैं हम व्यर्थ ही अपनी श्रेष्ठता का अभिमान करते हैं।

जो पूर्ण परमेश्वर का योगी है वह कुछ नहीं चाहता। जो अपूर्ण का संयोगी है वही चाहता है पर कहीं भी तृप्त नहीं होता। नकली साधु महात्मा मान-प्रतिष्ठा के पीछे कितनी हाय-हाय करते हैं लेकिन सच्चे साधु महापुरुष गम्भीरता पूर्वक कृतज्ञता की नम्रता की मूर्तिमान प्रकृति का परिचय देते हैं।

मैंने पढ़ा है, सम्मान भोग से तप का क्षय होता है। अपमान को प्रसन्नतापूर्वक सह लेने से तप की वृद्धि होती है।

हृदय से गरीब होकर सरल विनम्र रहकर परमेश्वर की सत्ता महत्ता को जगत के नामों रूपों में व्याप्त अनुभव करना, किसी का अनादर अपमान न करना, किसी से घृणा, द्वेष न करना, सब शुभ कर्मों से श्रेष्ठ हैं; इससे अभिमान पर विजय मिलती है।

शरीर से आलसी होना पहली भूल है, इन्द्रियों तथा मन से विषयासक्त होना दूसरी भूल है, चित्त से अशुभ, असुन्दर तथा असत्य का चिन्तन करना और रागी द्वेषी होना तीसरी भूल है, बुद्धि से असत् को सत्य मान बैठना सत्य की खोज न करना चौथी भूल है, अहं से शरीर सम्पत्ति परिवार को अपना मान कर मोही लोभी, अभिमानी होना यह पाँचवीं भूल है; इन्हीं भूलों के कारण पुनः सैकड़ों भूलें होती रहती हैं, जिनका परिणाम अगणित हानियों, कष्टों, दुःखों अन्त में मृत्यु के रूप में भोगना पड़ता है।

सभी प्रकार की भूलों का आरम्भ होता है स्व के अज्ञान से और जगत् दृश्य में मोहित होने से। परमेश्वर से विमुख होते ही असत् संग होने लगता है। इन्द्रियों की दृष्टि से प्रतीत होने वाले

विषय सुखों के प्रति आसक्ति बढ़ती है; मन से अनुकूल का रागी, प्रतिकूल का द्वेषी रहकर जैसा वह जीव सुनता है वैसा मानता जाता है और उसी का मनन करता है, चित्त से उसी का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी को स्वीकार करके अहं द्वारा संग का अभिमानी बन जाता है यह सब भूल का ही परिणाम है।

परमात्मा के सम्मुख होना सब कुछ परमात्मा का ही समझना अपना कुछ न मानना यह भूल मिटाने का मार्ग है।

हम सत्य को भूलकर झूठे सुखों के लिये झूठे संसार के साथ समझौता करके जीवन में बड़ी-बड़ी हानि का दुःख भोग रहे हैं। हानि ही हमारे लिये भूल का दण्ड है—वह इसीलिये है कि हम फिर भूल न करें।

संसार में जन्म लेकर जो क्षण-क्षण बदलते रहने वाले देहादिक वस्तुओं के रूप को नहीं पहचानते वे मनुष्य भूले हुए हैं। वे नहीं जानते कि जो कुछ दीखता है वह सब मिट रहा है। जो माता, पिता, पति पत्नी आदि मिले हुए सम्बन्धियों के शरीरों को अपना मानकर मोह करते हैं वे भूले हुए हैं, वे नहीं जानते कि संसार में जो कुछ मिला है वह अपनी वासना कामना पूर्ति के लिये मिला है, उसे हम सदा अपने साथ नहीं रख सकते किसी वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है।

जो दुःखी होकर दुःख का कारण दूसरे को ठहराते हैं वे भी भूले हुए हैं, वे नहीं जानते कि संसार में समस्त दुःख अपने ही दोषों के कारण, भूलों के कारण, अज्ञान के कारण होते हैं।

जो संसार में मिले धन को अपना मानकर लोभ बढ़ा रहे हैं तथा मिले हुए अधिकार के अभिमानी बन रहे हैं वे भी भूले हुए हैं; वे नहीं जानते कि यह हमारे किसी पुण्य-कर्म के फल स्वरूप मिला है, सदा न रहेगा। अतः धन के द्वारा दान करना चाहिये अधिकार बल से दूसरों की रक्षा तथा सेवा एवं कर्तव्य पालन करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते वही विमूढ़ हैं।

जो शरीर में रहकर शरीर के मालिक को और संसार में रहकर संसार के मालिक को नहीं जानते वे भी भूले हुए हैं; वे नहीं जानते कि शरीर के स्वामी को पहिचाने बिना शरीर को अपना मानकर काम में लाने से और संसार के स्वामी को जाने बिना संसार की वस्तुओं का उपभोग करने से चोरी का दण्ड मिलेगा। जिस प्रकार चोर के हाथों-पैरों में हथकड़ी बेड़ी डाली जाती हैं उसी प्रकार शरीर तथा संसार के स्वामी को न जानने वाले, उसके विधान को न मान-कर चलने वाले जीव के भी, प्रकृति विधान के अनुसार, हथकड़ी बेड़ी पड़ जाती हैं, यह मोह लोभ अभिमान ही वे बेड़ी हथकड़ी हैं जिनसे जीव तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक सच्चे स्वामी की शरण नहीं लेगा और स्वरूप को न जानेगा।

जो क्षणिक सुख के लोभ-वश दूसरे को दुःख देते हैं वे भी भूले हुए हैं, वे नहीं जानते कि सुख लाख यत्न करने पर भी सदा न रहेगा, अन्त में दुःख ही शेष रह जायगा। सन्त जन हमें यही बतला रहे हैं कि जिस सुख का जन्म किसी दुःख से होगा उसका अस्त भी दुःख में ही होगा। अतः सुख प्रलोभन का त्याग करना चाहिये, दुःख सह लेना चाहिए और सुख दूसरों को बाँटते रहना चाहिये।

जो मार्ग चलने के प्रथम मार्ग का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते, इसी प्रकार जो संसार में अथवा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के प्रथम उससे निकलने का द्वार नहीं देख लेते वह भी भूले हुए हैं। वे नहीं जानते कि बिना जाने समझे मार्ग चलने में व्यर्थ ही समय तथा शक्ति का अपव्यय होगा, अनेकों कष्टों का सामना करना पड़ेगा। जो पथ को समझ कर चलते हैं पूछ-पूछ कर चलते हैं वही चतुर पुरुष हैं, वही नहीं भूलते। जो सात्विक श्रद्धा से युक्त हैं, जिसका चित्त एकाग्र, सावधान रहता है हृदय तथा मस्तिष्क में एकता रहती है उसी से भूल नहीं होती; वह जहाँ पर जो कुछ करना चाहिये वही करता है; वही आलसी, प्रमादी, लोभी, मोही, अभिमानी नहीं होता, वही अर्थ और काम का दास नहीं होता।

जो कहीं से यात्रा करने के साथ ही पीछे लौट कर देख लेता है वह कदाचित् भूली हुई वस्तु को फिर पा जाता है। जो यात्रा समाप्त होने पर कहीं विश्राम करने के प्रथम विश्राम स्थल की शोध कर लेता है वह भी आगे अचानक होने वाली हानि से कष्ट से अपने को बचा लेता है। इसी प्रकार हमें चाहिये कि अपने उठने के पीछे, बैठने के पहले, कुछ कहने के पहले तथा सुनने के पीछे, कुछ करने के पहले और पीछे सदा देखते रहना चाहिये—इससे भूल का ज्ञान हो जाता है और परिणाम–दुःख से बचत हो जाती है।

जो व्यक्ति प्रत्येक दुःख के पीछे किसी भी हानि के पीछे अपनी भूल तथा अज्ञान को जान लेता है बुद्धिमान विवेकी दुःखों से बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

"आपुहि बाँधत आपु हठि कौन छुड़ावत ताहि।
सुखदायक देखत सुनत तदपि सुमानत नाहिं॥
अपने खोदे कूप में, यथा गिरे दुख होय।
तुलसी सुखद समुझि हिये, रचत जगत सब कोय॥
दुख सुख मग अपने गहे, मग केहु लगत न धाय।
तुलसी राम प्रसाद बिनु सो किमि जान्यो जाय॥"

देखो तुम कौन हो !

जिससे कोई भी भूल न हो, भगवान वही है।
भूल हो, भूल का भान न हो हैवान वही है ॥
भूलों के रहते चित में जिसके चैन नहीं आये।
अपना सुधार करता जाये इन्सान वही है ॥
आसुरी प्रकृति वह, जहाँ भूल का दुःख नहीं होता।
जो भूल देखने दे न कहीं अभिमान वही है ॥
जो हानि देखनी पड़ती, वह सब भेंट भूल की है।
जो भूल करे वह भोगे प्रकृति विधान वही है ॥
यह सारी भूल भोग सुख की तृष्णावश ही होती।
बस पथिक जो कि तृष्णा तज दे मतिमान वही है ॥

हमारी उन्नति कैसे हो

'नारायण सत्संग कर सीख भजन की रीत।
काम क्रोध मद लोभ में गई आयु सब बीत ॥
आप मेटे हरि भजै तन मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सों दादू यह मत सार ॥''

हम अपनी उन्नति के लिये अनेकों प्रकार की बातें सुनते हैं, भिन्न-भिन्न साधनों की महिमा पढ़ते हैं, अधिक सुनने पढ़ने के पश्चात् फिर भी यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम श्री गणेश कहाँ से करें आरम्भ

कैसे करें; हमें गुरु ज्ञान प्रकाश में ही यह ज्ञात हो सका कि जिन बन्धनों से छूटने का हम प्रश्न उठाते हैं उन्ही से हम मोह करते हैं। हम यह तो चाहते हैं कि दुःख न हो परन्तु जिस सुख के पथ में अगणित दुःख हैं उधर ही बढ़ते जाते हैं और जिधर अखण्ड आनन्द है उधर त्याग तथा तप से डर कर वैराग्य के द्वार से लौट आते हैं।

प्रकाश में जीवन की गति का निरीक्षण करने से पता चला कि हमारी उन्नति का शुभ मुहूर्त है विवेकी त्यागी महापुरुष का सुसंग; सुसग से अपने दोषों का ज्ञान होता है, दोषों का अथवा अपनी कमी का ज्ञान होने पर दुःख होता है और दोष निवृत्ति का प्रयत्न चलता है।

दोषों का त्याग ही जीवन की उन्नति है। दोषों की अधिकता के माने हैं गुणों की कमी। गुण के अभिमान से अनेकों दोष बनते रहते हें, दूसरों के दोष दीखते रहते हैं। अज्ञान रूपी अन्धकार में ही सारे दोषों की उत्पत्ति होती है; सुखासक्ति ही दोषों की भूमि है। एक सन्त के कथनानुसार गुणों के उपभोग से उन्नति रुकती है, अपना विकास नहीं हो पाता। शुद्ध संकल्प गुणों के विकास का साधन है। दूसरों से कुछलेने वाला उन्नति नहीं करपाता।

जो कुछ हमारे पास है उससे कहीं चैन आये ही नहीं तभी उन्नति हो सकती है।

सांसारिक उन्नति के लिये संयम, सदाचार, सेवा, श्रम को सुन्दर बनाकर विचारपूर्वक लोभ, मोहादि दोषों का त्याग करना होता है।

आस्तिकता की उन्नति के लिये विश्वास, दृढ़ता, भगवद् शरणागति आवश्यक है।

आध्यात्मिक सामर्थ्य की उन्नति के लिये विचार, अन्तर्मुखी वृत्ति, विषयों से विरक्ति और ज्ञान स्वरूप की मन बुद्धि से उपासना अर्थात् मन बुद्धि को देह से हटाकर ज्ञानस्वरूप आत्मा के निकट रखना आवश्यक है।

हमारे हृदय में उन्नति का प्रश्न तभी उठता है जब हम अपने धरातल से किसी उच्च शिखर को देखते हैं और वहाँ की महिमा को सुनते हैं, दूसरे शब्दों में जब हम अपनी पतितावस्था को जानते हैं और अपने सर्वोच्च लक्ष्य को देखते हैं तभी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हम व्याकुल हो उठते हैं।

जो व्यक्ति अपनी भोगमय परिस्थिति में ही सन्तुष्ट हैं जिसे अपने भोग सुखों का अन्त दुख में संयोग का अन्त वियोग में जीवन का अन्त मृत्यु में नहीं दीख रहा वह अपने को आगे बढ़ने तथा ऊँचे चढ़ने का प्रश्न तब तक नहीं उठाता जब तक उसके भोगस्थल में दुखानुभव नहीं होता और दुख के साथ विचार जाग्रत नहीं होता। जो सुखोपभोग की भूमि से उठा नही, आगे बढ़ा नहीं, उसे गिरने का भी भय कैसा ? गिरने का भय उसी को होता है जो ऊँचे चढ़ता है। हम किसी को गिरते देखकर इतना डर जाते हैं कि आगे बढ़ने तथा ऊँचे चढ़ने से ही घबराते हैं, हम विश्वामित्र आदि मुनियों महर्षियों का प्रमाण देते हुए अपने को महा अयोग्य शक्तिहीन पामर मान कर उन्नति से निराश हो जाते हैं परन्तु प्रकाश में निरीक्षण से पता चला कि चढ़ने वाले को गिरना, चलने वाले को भूलना उसकी असावधानी तथा दुर्बलता दूर कराने में सहायक है। साधक गिर-गिर कर चढ़ने की योग्यता प्राप्त करता है भूल-भूल कर मार्ग को तथा अपनें सत्य लक्ष्य को जानता है और सावधान होकर यात्रा सफल बनाता है।

पूर्व कर्मों के अनुसार हमें जो कुछ भी मिला है, हमारी जैसी भी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति है उसका सदुपयोग करना ही उन्नति करते जाना है।

सत्संग सन्त कृपा होने पर भी जो विवेक पूर्वक व्यवहार नहीं करता, जो मिथ्या ग्रही होता है तथा विषयाशक्ति को जो, नहीं छोड़ पाता, जिसकी अनियमित निद्रा है, जो अधिक भोजन करता है, जो धन वैभव का अभिमानी होता है, जो धन मान का भूखा है, जिसमें अमर्यादित भोग-विलासिता है, जो दूसरों का अनिष्ट चाहता है, जो

लोभवश संचय करता है, जो अपनी बढ़ाई के लिये अनेकों से मेल बढ़ाता रहता है, जो नित्य मियम पालन में दृढ़ नहीं है जिसका चित्त चंचल रहता है जो कामी है क्रोधी है, पर-दोष दर्शक हैं, वह तब तक अपनी उन्नति नहीं कर सकता जब तक इन दोषों का त्याग नहीं करता।

जीवन में जिस किसी से सम्बन्ध स्वीकार होगया हो उसके प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण करना किसी का ऋणी न रहना और अपनी प्रसन्नता किसा अन्य पर निर्भर न करना उन्नतिशील पुरुष में देखा जाता है।

शक्ति तथा योग्यता एवं गुणों का जब उपभोग होने लगता है वहीं उन्नति रुकती है।

पराये दोषों को देखने से भी उन्नति का मार्ग ढक जाता है। गुणों का अभिमान न आने पर दूसरों की बुराई भूल जाने पर उन्नति होती है।

आस्तिक की उन्नति के लिये शरणागति आवश्यक है, तत्वज्ञानी की उन्नति के लिये विचार तथा ज्ञान का कर्म के मध्य में ध्यान और असंगता आवश्यक है।

जो कोई दूसरे से मान तथा भोगसुख चाहता है उसकी उन्नति रुक जाती है।

वही उन्नति कर सकता है जो पुरुषार्थी है, प्रमादी नहीं है, जिसका शरीर स्वस्थ है, श्रद्धालु है, जो वीरजवान् है जिसमें संशय नहीं है, जो संयमी है, कष्टसहिष्णु है, जिसमें पवित्रता है, पुजवाने की चाह नहीं है जो दयालु है जिसमें आतुरता नहीं है, जो परचर्चा में व्यर्थ चिन्तन में समय नष्ट नहीं करता।

वही उन्नति कर सकता है जो वाह्य वेष-भूषा की आसक्ति से रहित है, जो विवाद नहीं पसन्द करता, जो स्वावलम्बो है जिसमें लोक रञ्जन की रुचि नहीं है, जो माता-पिता गुरुजनों का सदा आदर करता है, शास्त्र पर विश्वास करता है, जो साधन नियम में

दृढ़ है जो अनेकों धन्धों में व्यस्त नहीं है, जिसमें अपनी सफलता तथा प्रगति का अभिमान नहीं है, जो वीर्यवान्, शीलवान् है, जो विपत्ति में घबराता नहीं है, जो सम्पत्ति पाकर हर्षोन्मत्त नहीं होता, जो आश्रम आदि की स्थापना नहीं करता, जो सदा लक्ष्य पर दृष्टि रखता है जो देहाभिमान का त्याग करता है वही आत्मिक उन्नति कर सकता है।

जो सदा शास्त्र एवं गुरु वाक्यों द्वारा कुतर्क को दूर कर लेता है जो सदा सत्संग विवेक का आश्रय लेकर सब कर्म करता है, जो बार बार देह की नश्वरता को देखता रहता है, जो गुरु-सेवा में सदा तत्पर रहता है, जो दुखियों की सहायता करताहै जो दूसरों के हित के लिये कष्ट सह लेता है, जो अपने कर्तव्य-पालन से सबको संतुष्ट प्रसन्न रखता है, जो अपनी हानि को, अपमान को या अन्य दुःखद परिस्थिति को अपने ही पूर्व कर्मों का फल समझ कर तप के भाव से भोग लेता है और जो इच्छाओं का त्याग करता जाता है। वही समुन्नत होता है।

ऊँचे चढ़ा हुआ उन्नत जीवन वही है जिसे भोग भूमि में रहने वाले सुख, दुख, संयोग, वियोग, लाभ, हानि, मानापमान, जो कभी बहुत बड़े अपने जीवन को दबा देने वाले प्रतीत होते थे वही बहुत छोटे दिखने लगते हैं; उसी प्रकार छोटे प्रतीत होते हैं जिस प्रकार गिरिशिखर पर चढ़कर देखने से नगर के बड़े-बड़े ऊँचे भवन बहुत छोटे प्रतीत होते हैं।

उन्नत जीवन वही है जिसकी छाया बहुत बड़ी है जो छोटों को आश्रय देता है, आश्रितों को शीतलता प्रदान करता है।

हमें अपनी उन्नति के लिये सर्वोच्च पद प्राप्त करने के लिए देह से आत्मा की ओर, जड़ से चेतन की ओर पराधीनता से स्वाधीनता की ओर, सीमित से असीम की ओर, विनाशी से अविनाशी की ओर सुख-दुःख के बन्धन से परम शान्ति की ओर, मृत्यु से मुक्ति की ओर देखना और उधर ही चलना होगा।

अहंता और ममता का त्याग, सत्य से प्रेम, शुभ सुन्दर का दान, स्वकर्तव्य पालन एवं तप ही सर्वोच्च उन्नति का साधन है।

सब प्रकार के भय से, चिन्ताओं से रागद्वेष की पहुँच से परे हो जाना ही–सर्वोच्च पद प्राप्त कर लेना है शान्ति संतोष तथा प्रेम की पूर्णता ही उन्नति है।

हमें अपनी उन्नति के लिये सर्व प्रथम विरक्त विवेकी महापुरुष के संग म योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, पुनः उसी योग्यता का सदुपयोग सद्व्यवहार में करना चाहिये–ऐसा करने से दोषों का नाश होगा, दैवी गुणों का विकास होगा—यही मानव जीवन की उन्नति है।

हमें अपने प्रति प्रभु का पूर्ण कृपा तब समझनी चाहिये जब परस्पर के व्यवहार में अपने को सदा शान्त, विनम्र, सहिष्णु, उदार बनाये रख सकें हम दूसरों के कर्तव्य पालक होने की राह न देखें, वरन् स्वयं कर्तव्य पालक होकर अधिकार का त्याग कर सके।

हम अपनी उन्नति के लिये या शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रायः सरल साधन की खोज करते रहते हैं। सरल साधन की खोज हम तभी करते हैं जब हमारे लिये सुखासक्ति का, लोभ, मोह, कामादि दोषों का त्याग करना कठिन प्रतीत होता है, कर्तव्य पालन में तथा सेवा करने में अथवा संयम रूप तप में आलस्य प्रमाद रहता है; तभी हम कुछ जप या कीर्तन, पाठ, पूजा आदि शुभ कर्मों को ही उन्नति का, परमशान्ति या आत्मकल्याण का साधन मान लेते हैं। जब कुछ काल यह सब करते हुए व्यतीत होता है, परन्तु मन निर्मल नहीं होता है, शान्ति नहीं मिलती है तब फिर वही प्रश्न उठते हैं जो कि वर्षों पहले उठते थे। अब हमारी समझ में सदा के लिये आ जाना चाहिये कि हमारी शारीरिक उन्नति, विधिवत् श्रम तथा सदाचार से होगी, मानसिक उन्नति अपना कर्तव्य समझकर दूसरों की सेवा तथा छोटे के प्रति प्यार और बड़ों को सदा आदर मान देते रहने से होगी,

इसी क्रम से आत्मिक उन्नति राग, द्वेष, मोह, लोभ तथा कामना के त्याग से होगी।

श्रम तथा सदाचार की पूर्णता से संयमित शक्ति की प्राप्ति होती है। सेवा तथा सम्मान के द्वारा स्वेच्छित सुख सुलभ होता है, इसी प्रकार दोषों, दुर्विकारों के त्याग से जोवन में परम शान्ति उपलब्ध होती है।

उन्नत जीवन वही है जिसे संसार में प्रत्येक वस्तु या परिस्थिति अपने-अपने स्थान में नियम-बद्ध दिखाई देती है, जो किसी से घृणा द्वेष नहीं करता, ऊँच नीच की भेद दृष्टि रह हीं नहीं जाती, उन्नत पवित्र जीवन वही माना जायगा जिस तक संसार का कोलाहल प्रपञ्ज पहुँच ही नहीं पाता। दोषों, दुर्विकारों की दुगन्ध जिसके स्थान तक को स्पर्श नहीं कर पाती, जो सर्वदर्शी, दूरदर्शी, सत्यदर्शी होता है।

बुद्धि में दूर तक देखने की विचार दृष्टि न होने के कारण ही हम मोही, लोभी, अभिमानी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, द्वेषी, सुखासक्त बने रहते हैं जो देह से धन में संयोग भोग में अटका है वह सत्यदर्शी नहीं है।

हमें जब कभी कुछ धन मिलता है तो हर्षित होते हैं परन्तु दूर-दर्शिता न होने के कारण उस लोभ की वृद्धि को नहीं देख पाते जो धन प्राप्ति के साथ ही होती रहती है। बाहर रहने वाला धन यहाँ का यहीं रहता है पर लोभ तो हमारे साथ ही जाता है। किसी निर्धन में ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े धनिकों को हम देखते हैं तो धन बढ़ने के साथ लोभ घटा हो—ऐसा नहीं दिखाई देता। धन वृद्धि के साथ लोभ की ही वृद्धि प्राय: दिखाई देती है।

हमें जितने ही प्रिय सम्बन्धी मिलते जाते हैं उनके मिलने से मोह घटता हो सो बात नहीं दीखती, बल्कि सम्बन्धियों की वृद्धि से मोह बढ़ता ही जाता है, पहले माता-पिता से मोह बढ़ा फिर भाई बहिन मित्र से मोह बढ़ता गया आगे चलकर पति पत्नी सम्बन्ध से मोह

बढ़ा फिर जितनी सन्तान होती गई उतना ही मोह आगे-आगे बढ़ता ही गया। यदि किसी में मोह घटा तो दूरदर्शी विवेकी में ही घटा। इसी प्रकार हमें जितनी उपाधियाँ मिलती गईं, जितने अधिकार मिलते गए उतना ही अभिमान बढ़ता गया। जितनी इच्छाओं की पूर्ति होती गई उतनी ही कामनायें बढ़ती गईं।

दूरदर्शी दृष्टि न होने के कारण हम जिस संयोग से, जिस लाभ से, जिस अधिकार या जिस रुचिपूर्ति से हर्षित होते हैं, उसी से हम लोभी, मोही, अभिमानी, कामी होते जाते हैं। यह दोष ही हमारे अनेकों दुखों का; बन्धनों का कारण है पर उन्हें हम देख नहीं पाते, या देख कर भी ध्यान नहीं देते।

जब हम दूर तक देखने लग जाते हैं तब हमें लाभ का अन्त हानि में, संयोग का अन्त वियोग में, सुख का अन्त दुःख में, शरीर का अन्त मृत्यु में दिखाई देने लगता है। अन्त को देखकर ही हम अनन्त की ओर; सीमित को देखकर ही असीम की ओर, विनाशी को देखकर ही अविनाशी की ओर देखने, उधर ही चलने तथा उसका योग प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं और विधि विज्ञान का आश्रय लेकर हम उस सत्य के, अनन्त के योगी हो सकते हैं। संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, सुख-दुख की सीमा को पार कर अनन्त का योगानुभव करना ही हमारी सर्वोच्च उन्नति है, यही सदगति है परम गति है।

नीच नीच सब तरि गए, सन्त चरन लवलीन।
जातिहि के अभिमान ते डूबे बहुत कुलीन॥
धन विद्या गुन आयु बल, यह न बड़प्पन देत।
नारायण सोई बड़ा जाका हरि सों हेत॥
भयो बड़प्पन के बिना को उच्चासन योग।
बैठो काग मुड़ेर पर हंस न माने लोग॥
बड़े रामरत जगत में कै परिहित चित जाहि।
प्रेम पैज निबहीं जिन्हें बड़ो सो सबहीं चाहि॥

प्रेरणा

प्रेमियो अब कदम बढ़ाओ तो।
इधर भी करके कुछ दिखाओ तो॥
बहुत दिन भोग का सुख देख चुके।
इधर से दृष्टि अब घुमाओ तो॥
देख लो, कितने शक्ति हीन हुए।
अभी समय है, चेत जाओ तो॥
सुखों के अन्त में दुख ही मिलता।
तुम भी समझोगे, इधर आओ तो॥
इतना जीवन बिता चुके जग में।
अभी तक क्या मिला, बताओ तो॥
सबकी सुनते हो, गुरुजनों की सुनो।
पर्दा अभिमान का हटाओ तो॥
शान्ति तुमको अभी मिल सकती है।
राग के त्याग को अपनाओ तो॥
प्रभु से दूरी नहीं है देर नहीं।
उन्हें अपने मे देख पाओ तो॥
कृपा प्रभु की न तुम्हें छोड़ेगी।
पथिक संकल्प दृढ़ बनाओ तो॥

कृपा

सुखद दुखद कारज कठिन जानत को तेहि नाहि ।
जानहि पर गुरु कृपा विनु करतब बनत न काहि ॥
विनु विश्वास भगति नहि तिहि विनु द्रवहि न राम ।
राम कृपा विनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम ॥

जहाँ पर विधि पूर्वक प्रयत्न पूर्ण होता है वहीं से कृपा का योग अनुभव होता है ।

हम जो कुछ प्राप्त बल द्वारा कर सकते हैं उसे कर लेने पर कृपा के अधिकारी हो सकते हैं । बल को बचाकर अथवा बल का दुरुपयोग करते हुए जब हम कृपा के लिये प्रार्थना करते हैं तब हमारी प्रार्थना नहीं सुनी जाती । अपने कर्तव्य को पूर्ण कर लेने पर कृपा के लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती ।

कृपा करना परम प्रभु का नित्य स्वभाव है । हम लोग भले ही न समझें पर वे हम सब पर कृपा करते ही रहते हैं । जब तक हम कृपा के अधिकारी नहीं होते तब तक प्रभु कृपा के लिये अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और जब तक हम कृपा पात्र नहीं बन पाते तब तक परम प्रभु दया करते हैं ।

परमेश्वर की दया से हमें संसार का सब कुछ मिलता है, दया से हमारे मन की कामनायें पूरी होती हैं परन्तु कृपा से स्वयं परमानन्द रूप परमेश्वर ही मिलते हैं ।

दया से स्वेच्छित सुख मिलते हैं कृपा से शान्ति मिलती है । हमारे दुखी होने पर प्रभु दया करते हैं और सब प्रकार से निराश्रित होने पर दीन होने पर वे कृपा करते हैं । जिस महान लाभ के लिये हमें कुछ नहीं करना पड़ता, जो स्वतः ही होता है वह कृपा है, जो कुछ हमें श्रम के पश्चात् दुखी होने पर मिलता है वह दया है ।

गंगा जी का जल नहर द्वारा कहीं ले जाना दया है और गंगाजी का निरन्तर बिना किसी प्रार्थना के बहते रहना कृपा है ! कूप खोद कर जल निकालना, पंखे के द्वारा वायु प्राप्त करना, विद्युत शक्ति को काँच में प्रकाशित करना, प्रकाश को किसी वस्तु के योग से गृह में जलाना दया है और स्वतः वर्षा द्वारा जल मिलना, स्वतः वायु चलना, सूर्य चन्द्रादि से प्रकाश सुलभ होना कृपा है ।

एक सन्त के शब्दों में—कृपा का सहारा वही लेता है जो कृपालु की महिमा को, उनके महान ऐश्वर्य माधुर्य को तथा प्रभाव को जान लेता है ।

उमा राम स्वभाव जिन जाना ।
ताहि भजन तजि काज न आना ॥

भगवान जब हम पर कृपा करते हैं तब जिससे हमारा हित होना है अथवा जिसकी हमें आवश्यकता है वह बिना माँगे ही देते रहते हैं, और जिससे हमारा अहित होना है वह माँगने पर भी नहीं देते हैं ।

परम भक्त नारद पर जब भगवान कृपा करेंगे तब माँगने पर भी मनोहर स्वरूप नहीं देते और बन्दर का रूप बिना माँगे ही देते हैं क्योंकि इसी में श्री नारद जी का हित निहित है ।

कृपा के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती केवल पूर्णरूपेण प्रभु में ही निर्भर होकर रहने की आवश्यकता होती है ।

सन्त का वचन है कि अभिमान युक्त व्यक्ति कृपा का आश्रय नहीं ले सकता । निरभिमानी पुरुष में कृपा ही सब कुछ करती है । जगत की वस्तुओं व्यक्तियों का आश्रय लेने वाले कृपा का अनुभव नहीं कर पाते ।

मुक्ति यदि त्याग से मिलती है तो भक्ति अहेतु की कृपा से सुलभ होती है । दुःख तो अपने ही दोषों के कारण मिलते हैं किन्तु आनन्द का अनुभव कृपा से ही होता है गुरुजनों की कृपा का बल सब बलों से श्रेष्ठ दीखता है ।

जिस प्रकार सञ्चित पुण्य तथा विधिवत प्रयत्न से इच्छाओं की पूर्ति होती है; कामना के त्याग से अथवा सत्य तत्व में बुद्धि को समस्थित कर लेने से शान्ति मिलती है, भगवान को सवभावेन अपना मानने से प्रीति बढ़ती है, सर्व संग से असंग हो जाने से मुक्ति मिलती हैं उसी प्रकार भगवद् कृपा से—भगवान तथा उनकी भक्ति सुलभ होती है।

कभी-कभी हम ऐसा भी सोचने लगते हैं कि भगवान किसी साधन से नहीं मिलते वह अपनी अहेतु की कृपा से मिलते हैं तब किसी प्रकार के साधन नियम-संयम की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रकार के तर्क का समाधान गुरु ज्ञान प्रकाश में यही हुआ है कि सब प्रकार के साधन चित्त की शुद्धि के लिये, अपने अन्त:करण के दोष मिटाने के लिये परमावश्यक हैं। चित्त की अशुद्धि से ही सारे दोषों का सम्बन्ध है, चित्त की शुद्धि से ही सारे सद्गुणों का सम्बन्ध है।

यह सन्त के बचन हैं:—संसार से निराश होने पर सब ओर से चित्त हटा लेने पर चित्त शुद्ध होता है। अथवा विषयों से विरक्ति होने पर चित्त शुद्ध होता है, आशाओं कामनाओं से फँसा हुआ चित्त अशुद्ध रहता है; इसीलिये राग के कारण चित्त की अशुद्धि त्याग से दूर हो जाती है। चित्त के शुद्ध होने पर बुद्धि सम होती है तभी यथार्थ विवेक प्रबल होता है।

जो कुछ अपने को प्राप्त है उसका विवेक पूर्वक सदुपयोग करने से और जो अप्राप्त है उसकी इच्छा का त्याग करने से चित्त शुद्ध होता है। अपने को कुछ न मानने से साथ ही अपना कुछ न मानने से या फिर केवल परमेश्वर को अपना मानने से और सब कुछ परमेश्वर का जानने से अन्त:करण निर्मल ही जाता है—यह सन्त पुरुष का सन्देश है।

नाम जप, नाम संकीर्तन, पाठ, पूजा, यज्ञ, दान आदि सब साधन चित्त शुद्धि के लिये ही हैं।

सुखासक्ति, भोगासक्ति के कारण चित्त असत् तथा जड़ वस्तुओं के संग से जड़मय अशुद्ध हो गया है; अब साधन के द्वारा जड़ का संग छोड़ कर चित्त को चिन्मय होने देना है जोकि चित्त की शुद्धि होने पर ही सम्भव है।

हम जो कुछ आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, हाथों से जो कुछ पकड़ते हैं, रसना से जो कुछ रस लेते हैं; इसी प्रकार मन से जिस देखे हुए सुने हुए को अपना मानते हैं जिसका चिन्तन करते हैं अथवा जिस जगत दृश्य के विषय में हम बहुत कुछ जानते हैं वह सत्य नहीं है, अपना नहीं है; वास्तव में जो अपना, जो सत्य है, परमानन्द स्वरूप है वह अपने से भिन्न नहीं है अतः वह तो अपनी कृपा से नित्य प्राप्त है परन्तु अशुद्ध अन्तःकरण द्वारा हम उसका अनुभव नहीं कर पाते।

हम में जो दोष हैं वह हमारे ही बनाये हुए हैं उन्हें दूसरा कोई नहीं मिटा सकता; भगवान की कृपा से मिलने वाले सन्त संग द्वारा हम कृपा से मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करके ही अपने दोष मिटा सकते हैं।

कभी-कभी हममें से जो कुछ लोग भगवान में ही दोषारोपण करते हैं कि भगवान ने ही काम, क्रोध, लोभ, मोह में जीव को जकड़ दिया है, परन्तु ऐसी बात नहीं है -- भगवान की दया से हमारी बासना पूर्ति के लिये तन, धन, भवन, माता, पिता, पत्नी अधिकार आदि सब कुछ मिला है, हम परम दयालु शक्तिमान दाता को भूल कर मिले हुए को अपना मानने लगे इसी कारण परिवार के सम्बन्धियों को अपना मानने से मोह, धन को अपना मानने से लोभ, अधिकार को अपना मानने से अभिमान और ईश्वर तथा उसकी सृष्टि को अपना न मानने से द्वेष आदि अनेकों दुर्गुण दोष हमने ही बनाये हैं। अब भी यदि हम सब कुछ भगवान् से मिला हुआ समझने लग जाँय; अपना मानना छोड़ दें तो हमारे दोषों का अन्त सरलता से हो सकता है। दोषों का अन्त होते ही दुःखों का अन्त होना

अनिवार्य है। दोषों, दुर्गुणों, दुर्विकारों का अन्त करने के लिये जीवन का साधन बनाना है। जो कुछ हम कर सकते हैं उसे करना ही चाहिए। अपना कर्तव्य पूरा कर लेने पर भगवान् की कृपा से जो कुछ होना है वह अपने आप ही होगा, हमें स्मरण कराने का प्रयत्न न करना पड़ेगा—ऐसा भगवान् के परम प्रेमियों द्वारा ज्ञात हुआ है।

प्रसन्नता

प्रसन्नता एक दैवी गुण है 'प्रसन्नता में मानो परमेश्वर निवास करते हैं, आनन्द स्वरूप तत्व प्रसन्नता के द्वारा मुस्कराता पाया जाता है। अपने जीवन को दैवी गुणों के द्वारा समलंकृत करने अर्थात् सुन्दर बनाने के लिए हम सदा स्वतंत्र हैं। हम दूसरों को देवता नहीं बना सकते लेकिन स्वयं देवताओं के गुण अपने में धारण कर सकते हैं। सब हम पर दया करें, हमारी भूलों को लोग क्षमा कर दें, हम से हमारे सम्बन्धी सदा प्यार ही करें, हमारा तिरस्कार कभी न करें—ऐसा भले ही सम्भव न हो; पर दूसरों पर दया करना, दूसरों की भूलों को क्षमा कर देना, सबको प्यार करना किसी का तिरस्कार न करना हमारे लिए सदा सम्भव है क्योंकि हम इसके लिये स्वतंत्र हैं।

सदा प्रसन्न रहने के लिये अभय रहना तथा निश्चिन्त रहना परमावश्यक है, विनाशी वस्तुओं में सुख मानने के कारण हम भयातुर चिन्तित होते हैं। यदि हम ऐसी वस्तु में सुख निर्भर करें जिसका कभी नाश न हो हमें कहीं भी भयातुर, चिन्ताकुल न होना पड़ेगा, इसीलिए आस्तिक निश्चिन्त निर्भय रहता है।

जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि परमेश्वर के प्राकृतिक विधान में कहीं भूल हो ही नहीं सकती, जो न होना चाहिए वह हो ही नहीं सकता तब हम किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में भयभीत तथा चिन्तित नहीं होंगे, बल्कि यह सोचकर प्रसन्न रहेंगे

कि जो कुछ आया है वह हमारे हिस्से का भोग आया है और कुछ सिखाने आया है, प्राकृतिक अटल विधान का ज्ञान कराने आया है और दुःख की भूमि से परम शान्ति के सर्वोच्च शिखर की ओर प्रेरित करने आया है।

अखण्ड रूप से वही प्रसन्न रह सकता है जो अखण्ड सत्य को जानता है। सदा प्रसन्न रहने वाले की बुद्धि स्थिर होती है मन अचंचल रहता है प्राय: शरीर भी स्वस्थ रहता है किसी पूर्वकाल के असंयम-जनित परिणाम से यदि शरीर अस्वस्थ भी हो तो प्रसन्नता से रोग की निवृत्ति हो जाती है। हम प्रसन्न रहने के लिये कहीं परतंत्र नहीं है।

एक सेठ जी की कथा है, सेठ जी कुछ दिनों से ज्वर पीड़ित थे उन्होंने एक बन्दर पाल रक्खा था, सेठ जी के पलँग के पास टेबुल पर दवा की शीशी रक्खी थी वह शीशी वैसे तो ऊपर से सुगन्ध दे रही थी पर उसकी औषधि कड़वी थी, पालतू बंदर ने शीशी उठाकर कार्क खोल ली और दवा शर्बत की तरह पीने लगा, सेठ जी उसे प्रायः शर्बत पिलाते थे, इसीलिये उसका अभ्यास पड़ गया था। औषधि मुख में जाते ही इतनी कड़वी लगी कि बन्दर ने क्रोध में आकर शीशी पटक दी उसकी आवाज से सेठ जी का ध्यान बन्दर की ओर गया उसका मुख कड़ुआहट से इतना विकृत हो गया था जिसे देखकर सेठ जी को इतनी अधिक हँसी आई कि पेट के थक जाने पर भी बड़ी देर तक वे हँसी को न रोक सके, बन्दर के लिये कड़वी दवा का धोखे से शर्बत समझकर पीना, कड़वी लगने पर मुँह बनाते हुए शीशी का पटक देना मालिक की तरफ देखना और चिढ़कर दाँत निकालना, यही सब हँसी के लिये विलक्षण चित्र था। इस हंसी से सेठ जी का हृदय प्रसन्नता से इतना प्रफुल्लित हुआ कि उसी क्षण उनका ज्वर उतर गया फिर उन्हें दवा नहीं लेनी पड़ी।

जिस प्रकार प्रसन्नता से हर्ष से मुख खिल जाता है उसी प्रकार शरीर के सभी केन्द्रों में, नाड़ियों में, रक्त की गति में सुन्दर प्रभाव पड़ता है, वैसे तो संसार के सभी प्राणी प्रसन्न होते रहते हैं परन्तु तमोगुण की प्रसन्नता का हर्ष-क्षेत्र और है रजोगुणी, एवं सतोगुणी की प्रसन्नता कुछ और ही है।

तमोगुणी तो प्रायः लेकर सञ्चित करके हर्षित होता है, रजोगुणी व्यक्ति प्राप्त का उपभोग करके हर्षित होता है और सतोगुणी व्यक्ति सदा दूसरों को देकर प्रसन्न होता है।

जो दूसरों से लेकर प्रसन्न होता है वह संसार का ऋणी बनता है जो दूसरों को लिया हुआ देकर प्रसन्न होता है वह संसार के ऋण से मुक्त हो जाता है। दूसरों से कुछ लेकर प्रसन्न होने वाला व्यक्ति भोगी होता है। दूसरों को देकर प्रसन्न रहने वाला पुरुष योगी होता है। सँसार के संग से भोग और सत्य के संग से योग की सिद्धि होती है।

जब हम अपनी सुखद वस्तुएँ दूसरों को देते जाते हैं तब हमें संसार से असंगता प्राप्त होती है और सत्य से अभिन्नता की अनुभूति के लिये अपने को खाली पाते हैं।

संसार हमें नहीं चाहता, वह हमसे उस सुख को या सुखद वस्तुओं को चाहता है जो हमने संसार से कभी लिया है। संसार से हमने जो कुछ लिया है वह जब तक हम लौटा न देंगे तब तक संसार हमारा पीछा न छोड़ेगा अतः संसार से मुक्त होने का उपाय यही है कि हम जिस प्रकार कभी संसार से कुछ लेकर प्रसन्न हुए हैं उसी प्रकार उसे देकर उसे प्रसन्न कर दें। जब हम लिये हुए सुख को सुखद वस्तुओं को दे देंगे उसी क्षण संसार उस सुख को देखकर उसी में तल्लीन हो जायेगा, हमें देखना तथा हमारे पीछे दौड़ना छोड़ देगा।

संसार से जो कुछ हमने सुख पाया है उसे वापस करके हम अपने हृदय को खाली कर सकते हैं और जब हमारे हृदय में कुछ

भी न रहेगा तभी अपने परम प्रेमास्पद को अकेले में पाकर अखण्ड प्रसन्नता के भागी हो सकते हैं।

प्रसन्नता सभी को प्रिय है परन्तु प्रसन्नता कहाँ से प्रस्फुटित होती है इसका ज्ञान सभी को नहीं है, इसीलिये जो परमेश्वरीय प्रसन्नता स्वतंत्रता पूर्वक प्राप्त हो सकती है उसी के कारण लोग अपने को परतंत्र बना लेते हैं क्योंकि प्रसन्नता स्वयं में न देखकर अन्य में निर्भर करते हैं।

पवित्र प्रसन्नता वही है जो परमेश्वर की दैवी प्रकृति का आश्रय लेने से आती है। जिस प्रसन्नता के लिये प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है वह प्रसन्नता तन मन तथा प्राण को भी निरामय निर्दोष बनाती हैं।

जो प्रसन्नता किसी वस्तु तथा व्यक्ति का आश्रय लेकर मन में या मुखाकृति में खिलती है वह मोही लोभी अभिमानी प्रकृति में विलीन होती रहती है।

उदासीन चेहरा मनहूस स्वभाव वनाये रहना परमेश्वर की उदार दानी प्रकृति का अनादर करना है। जो प्रकृति के सौन्दर्य को देखने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, सदा प्रसन्न रह सकता है जब तक कि वह प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग न करें।

जितना पुष्प कोमल है उतनी प्रसन्नता भी कोमल है। कोमल पुष्प बिना किसी को आघात पहुँचाये खिलता है प्रसन्न होता है उसके खिलने, प्रसन्न होने में कभी किसी को ठेस नहीं लगती, कभी कभी खिता हुआ पुष्प मुरझाये हुए मानव के मुख की काली झुर्रियों को मिटाने का मौन प्रयास करता है। वह परिताप से जलती हुई आँखों में शीतलता के स्निग्ध कम्पन प्रेरित करता है, इसी प्रकार दैवी प्रसन्नता को प्राप्त करने वाला-सत्य दर्शी मानव पुष्प के समान निराधार सत्य का, दैवी प्रकृति दैवी का, गुणों का आश्रय लेकर प्रसन्न रहता, है उसकी प्रसन्ता से किसी को आघात नहीं लगता वरन् आघात से आहत मन वालों के लिये उसकी प्रसन्नता मधुर स्पर्श बन जाती है, और स्फूर्तिदायक प्राण प्रदान करती है।

हमें चाहिये कि जो प्रसन्नता पुष्प के समान कोमल होता है वह बहुत ही हलके आघात से कुचली जा सकती है, छिन्न-भिन्न की जा सकती है, उसे कही भी आघात न पहुँचाये क्योंकि यह भी एक प्रकार की हिन्सा होगी, इस हिन्सा से बचने के लिये हमें इतना ही करना होगा कि अपनी प्रसम्नता का साधन किसी व्यक्ति को या पराश्रित वस्तु को न बनायें।

प्रसन्नता और हास्य में भेद है। प्रसन्नता यदि मन्द मन्द शीतल सर्व प्रिय समीर है (वायु है) तो हास्य तीव्रगतिगामिनी वायु है, अट्टहास एक वायु का तूफान है जो अशान्ति लाता है तमाम उखाड़ पछाड़ मचा देता है, उपहास-परिहास एक आँधी है इधर-उधर झक झोरती धक्का देती हुई द्रुति गति से चलती है।

प्रसन्नता में सतोगुण की प्रधानता है, मन्द हास्य में रजोगुण से तटस्थ सतोगुण है, परस्पर मित्रों प्रेमियों के मध्य सम्मिलित हास्य में रजोगुण की प्रधानता है। किसी को लक्ष्य बनाकर उपहास परिहास में तमोगुण की प्रधानता है किसी को तुच्छ नीच ठहराते हुए अट्टहास, ठहाका मारना यह घोर तमोगुणी चेष्टा है।

यद्यपि हँसने का प्रभाव हमारे स्नायु-जाल (नाड़ियों) पर तथा मन पर तत्क्षण पड़ता है परन्तु अधिक बलपूर्वक देर तक हँसने से अन्तर-स्तर में बल का क्षय भी होता है उसी भाँति से जैसे मर्यादा-पूर्वक श्रम करने से शरीर बलवान होता है किन्तु अमर्यादित श्रम से श्रम की क्षमता घट जाती है।

हमें हँसने में मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये। हमारे हंसने से किसी को कष्ट न हो किसी प्रकार की वेदना न हो इसका भी विचार रखना चाहिये इसीलिये किसी का उपहास करके व्यंग बोल करके किसी को धोखा देकर के हँसना प्रसन्न होना हिन्सात्मक कर्म है—यह हम ज्ञान प्रकाश में ही जान सके हैं।

हमें अपनी प्रसन्नता का साधन दूसरों को नहीं बनाना है बल्कि दूसरों की प्रसन्नता का साधन स्वयं ही बन जाना है और दूसरों की

उसी प्रसन्नता का पक्ष लेना है जिसमें अपना या दूसरे किसी का अहित न हो।

किसी को दुखी करके प्रसन्न होना हर्षित होना, किसी का अपमान देखकर हर्षित होना, किसी की बुराई सुनकर, किसी की निन्दा करके, किसी को लज्जित करके हर्षित होना विवेकी. शुद्ध अन्तःकरण जिनका हो चुका है—ऐसे महापुरुष उचित नहीं समझते।

संसार में जो कुछ पवित्र है, सुन्दर, निर्लिप्त है मधुर है उसी को देखकर प्रसन्नता होती है, जैसे कि झरना, उपवन, पुष्प, नवजात शिशु को देखकर प्रसन्नता होती है।

हमें अपने जीवन में सत्य के तथा असत्य के ज्ञान से प्रसन्नता होनी चाहिये, दोषों के त्याग तथा सत्य अनुराग से प्रसन्नता होनी चाहिये; अपने में, सन्तोष, दया, क्षमा कष्टों के प्रति सहनशीलता, नम्रता, सरलता देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। दोष अपने देखकर और गुण भगवान के समझकर प्रसन्न होना चाहिये।

परमेश्वर की निरन्तर दया तथा कृपा का अनुभव करके प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान कभी कुछ देकर कभी लेकर कभी अनुकूल कभी प्रतिकूल परिस्थिति द्वारा हमारा कल्याण ही कर रहे हैं यह विचार करके प्रसन्न रहना चाहिये।

सारा संसार छोड़ दे पर परमात्मा हमारा कभी त्याग नहीं कर सकता, उसका कभी दीवाला नहीं निकल सकता, वह कभी रोगी, दोषी नहीं हो सकता, उसका कभी विनाश नहीं हो सकता ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

दूसरे किसी को दुख दिये बिना अहित किये बिना जो मानव प्रसन्न रह सकता है अवश्य ही वह पवित्र हृदय का सद विवेकी व्यक्ति है। प्रसन्नता का सम्बन्ध पवित्रता से स्वाधीनता से अथवा दैवी सम्पत्ति से और परमानन्द परमात्मा से है। इस प्रकार की प्रसन्नता आस्तिक में ही पाई जाती है। आस्तिक की प्रसन्नता

प्रकृति तथा परमेश्वर का आश्रय लेकर होती है, नास्तिक की प्रसन्नता केवल प्रकृति की वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर निर्भर रहती है। आस्तिक की प्रसन्नता अखण्ड है और नास्तिक की प्रसन्नता खण्ड वाली होती है।

अखण्ड प्रसन्नता अखण्ड सत्य में निर्भर होकर रहने का या अखण्ड ज्ञान का तथा सत्य परमात्मा के प्रति अखण्ड प्रेम का परिचय देती है।

साँसारिक लाभ से संयोग से, सम्मान से तज्जनित सुखों से हर्षित होने वाला व्यक्ति अवश्य ही कहीं रागी बनता है और अनुकूलता में वाधा देख कर द्वेषी बनता है। जहां तक राग द्वेष है वहां तक मनुष्य का अन्त:करण पवित्र नहीं कहा जा सकता और वह अखण्ड प्रसन्नता को भी नहीं प्राप्त कर पाता।

प्रसन्नता हमारे स्वरूप की मुस्क्यान है जब इस सत्स्वरूप से विमुख होकर जगत दृश्य का महत्व बढ़ा देते हैं तब हमारे निम्न स्तर से नि:सृत (बहती हुई) प्रसन्नता अविवेक वश दूसरी वस्तुओं व्यक्तियों से आती हुई प्रतीत होती है, तभी हम स्वरूप की महिमा को भूलकर वस्तु व्यक्ति को सुन्दर मान कर मोहित होते हैं, उसके संयोग लाभ से प्रसन्न होते हैं और वियोग से दुखी हो जाते हैं।

यदि हम असत्य को जान लें और अपने से भिन्न का आश्रय न लें तो सदा प्रसन्न रह सकते हैं।

प्रसन्नता केवल सत्याश्रित है वह हर्ष विषाद से अतीत है। भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अपने राज्याभिषेक का समाचार सुनते हैं तब उनकी अनुपम नित्य प्रसन्न मुखाकृति में हर्ष की रेखायें नहीं छिटकीं और जब बन-बास की बात सुनते हैं तब उनका मुख विषाद से म्लान नहीं हुआ (वह मुख कान्ति हम सबका मंगल करें) इसी को भगवत प्रसाद कहते हैं।

भगवत प्रसाद का अर्थात् इस निर्मल प्रसन्नता का अधिकारी वही होता है जो संसार से कुछ नहीं चाहता, इस स्वतंत्र प्रसन्नता के योग के लिये इन्द्रिय जय मनोजय परमावश्यक है। इन्द्रिय व्यापार अथवा विषयासक्ति से ही राग द्वेष उत्पन्न होते हैं। रागी द्वेषी हर्ष शोक के द्वन्द से मुक्त नहीं हो पाता।

मानव के अनेकों दु:ख मन की मलीनता के ही कारण हैं। जिसका अन्त:करण निर्मल है वहाँ तो दुख भी सुख रूप हो जाते हैं वही निरपेक्ष प्रसन्नता निरावरण रूप से प्रत्येक परिस्थिति में दिखाई देती है।

संत का वचन है कि दु:खहारी हरि दुखी पर दया करते हैं और प्रसन्नता में निवास करते हैं।

प्रसन्नता किसी को अप्रिय नहीं है हर्ष हास्य विनोद प्राय: दुखी को अप्रिय हो सकता है पर प्रसन्नता सभी को प्रिय है।

हम यदि प्रतिकूलता की वेदना को दु:ख को मस्तिष्क में पहुँचने दें तो हम निरन्तर प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता का आस्वादन कर सकते हैं। प्रसन्नता भगवान की कृपा से सबको नित्य सहज ही प्राप्त है परन्तु उसका अनुभ व आस्तिक को, भक्त को ही हो सकता है।

जिस प्रसन्नता के योग में परमेश्वर की कृपा काम करती है; जिसके योग के लिये हम सदा स्वतन्त्र हैं फिर भी जिन कुकृतियों से हम पवित्र प्रसाद स्वरूप प्रसन्नता से वञ्चित हो जाते हैं, दूर हट जाते हैं और खिन्नता उदासीनता, पश्चाताप, शोक से घिर जाते हैं, उन्हीं कुकृत्यों से भूलों से अपने को बचाते रहना है।

हमें ज्ञान प्रकाश में ही ज्ञात हो सका कि जो अमर्यादित विधि विपरीत श्रम करता है, जो मुफ्त में दूसरे की वस्तु लेता हैं, जो अपनें सुख के लिये दूसरों को दुख देता है, जो दूसरों का अपमान करता है, जो व्यर्थ विवाद करता है, बहुत अधिक सम्भाषण करता है किसी से वैर विद्रोह करता है; जो क्रोध करता है, कठोरता, कटुता पूर्वक

किसी से व्यवहार करता है, जो चोरी करता है, जो व्यभिचारी होता है, जो अमर्यादित स्त्री सहवास करता है, जो दूसरों का अनिष्ट चाहता है, जो दुर्व्यसनी होता है. दुर्जनों का संग करता है, जा दूसरों का अन्न मुफ्त हो बिना कुछ श्रम किये ही खाता है जो गरिष्ठ भोजन करता है, जो विना उद्यम के व्यर्थ समय खोता है जो बैठे-बैठे दूसरों से सेवायें लेता रहता है वही पवित्र प्रसन्नता के योगस्थल से दूर हट जाता है; वही परमेश्वर की कृपा से विमुख रहता है। वह हर्ष शोक के द्वन्द्व में आबद्ध रहता है।

यदि हम भगवान् की नित्य सहज कृपा का अनुभव करके अभय तथा चिन्ता मुक्त और निरन्तर प्रसन्न रहना चाहते हैं तो हमें नित्य ही विधिपूर्वक श्रम करना चाहिये इन्द्रियों को स्ववश रखना चाहिये मन संयमी होना चाहिये, दोषों का त्याग करना तथा छोटों को प्यार, बड़ों के प्रति पूज्य भाव रखते हुए सबको मान देना चाहिये, सत्य एवं प्रिय भाषण करना चाहिये, दुखी पर विचारपूर्वक दया करना चाहिये और अपने पास जो कुछ भी शुभ, सुन्दर, पवित्र शक्ति, सम्पत्ति है उसका सुपात्रों को दान देना चाहिये, अभाव-पीड़ितों की सहायता सेवा करना चाहिये, प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करते हुए परमेश्वर की महिमा का तथा प्रकृति की उदारता का मनन करना चाहिये, अज्ञानवश जो कोई भूल करे उसे क्षमा करना चाहिये, भगवान् का स्मरण चिन्तन करना चाहिये, भगवद्तत्व का तथा परमात्मा के और अपने सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, सत्संग करते रहना चाहिये, सन्त सद्गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये, धर्म शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये और आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये—यही सब अखण्ड प्रसन्नता के परमधाम में प्रवेश करने का साधन है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति ॥२-६४ गी०

परन्तु स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग द्वेष से रहित अपने

वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेत सो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥२-६५ गी०

'उस प्रसन्नता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुखों का अभाव हो जाता है। और उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।'

हम सबको चाहिये कि अखण्ड प्रसन्न रहने का स्वभाव बना लें उसे सांसारिक हर्ष शोक से कहीं न दबने दें। उसी हर्ष को हास्य को स्थान दे जिससे किसी को दुख अशांति न होती हो।

एक सन्त से मैंने सुना था कि—

भूतकाल के लिये रोना शोक है।

वर्तमान में फँस जाना मोह है।

भविष्य की चिन्ता करने में भय है।

देहाभिमानी ही अपमान से निन्दा से दुखी होते हैं।

आत्मज्ञानी वही है जो परमात्मा को अपने ही स्वरूप में अनुभव करता है।

नम्रता, सरलता, साधुता, प्रीतिपूर्वक सभी के प्रति अपनत्व की भावना, समता—यह सब आत्मानुभव के मुख्य अङ्ग हैं।

आलस्य से, अन्य दोष से, दुराचार से, स्वाध्याय न करनें से, राग द्वेष से, साधक मुक्ति पथ में भ्रमित होकर भ्रष्ट हो जाता है।

भक्ति के लिये, श्रद्धा तथा निर्गुणोपासना के लिये वैराग्य आवश्यक है।

कठोर वचन, हिन्सा, कृपणता राग द्वेष के त्याग से प्रभु की आराधना सफल होती है।

उपासना से काम की, सत्संग से क्रोध की, एकान्त-बास से मोह की, त्याग से लोभ की, कर्म अर्पण से मत्सर की, भिक्षावृत्ति से मद की निवृत्ति होती है।

अधिक बोलने से, अधिक खाने से, अधिक सोने से, तमोगुण बढ़ता है इनके त्याग से सतोगुण बढ़ता है।

जो सत्ता हम में तुम में सब में है उसी की उपासना करो वही ब्रह्म है।

जो शरीर को देखते हैं वही संसारी हैं, जो आत्मा को जानते हैं वही परमार्थी हैं।

जो पूर्ण धार्मिक होते हैं वही अहङ्कार से मुक्त होते हैं, संसार से विरक्त होते हैं।

दूसरों के दुराचरण का मनन, चिन्तन, कथन न करो, अपने को ही देखते रहो, इससे साधना में शक्ति का सुयोग होता है।

जिसे अपने से अधिक बुद्धिमान विवेकी श्रेष्ठ नहीं दीखता वही असहाय है दीन हीन है फिर भी वह अपनी दशा को अहंकारवश नहीं देख पाता।

अभिमान त्याग कर सङ्ग रहित होकर 'स्व' को देखो, वहीं पर बिना देरी और दूरी के प्रभु मिलेगा।

एक सन्त के द्वारा सुना है और पढ़ा है कि—

तत्व ज्ञान होने पर ही आत्मा के रूप में ब्रह्म का अभिन्न बोध होता है।

तत्ववित् जन सर्व रूपों में आत्मा को ही विद्यमान देखते हैं। जो विना साधन के ही सब का द्रष्टा है वही आत्मा है।

देहाभिमानी को किसी दिन सब कुछ छूटता दीखता है। आत्मवेत्ता को आत्मा में ही सब कुछ मिलता दीखता है।

जिस ज्ञान से शरीर इन्द्रियाँ तथा मन एवं बुद्धि को और जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति को जानते हैं वही ब्रह्म है। जहाँ केवल परमात्मा है वहाँ केवल ज्ञान है। ज्ञान कोई गुण नहीं है।

साधन भजन वही उत्तम है जिससे सुन्दर व्यक्तित्व का निर्माण हो। तत्वज्ञान तभी सार्थक है जब अविद्या की निवृत्ति हो जाये।

जब साधक के मन में संकल्प शान्त हो जाते हैं वासना की निवृत्ति हो जाती है तभी ज्ञान के द्वारा मुक्ति सुलभ होती है।

जिसे फलासक्ति नहीं रहती, कर्तापने का अहंकार नहीं रहता, कर्मासक्ति छूट जाती है अकर्तापने का अभिमान भी निवृत्त हो जाता है वही निष्काम भक्त हो पाता है।

स्वरूप का ज्ञान मौन में, शून्य में, स्थाई शान्ति में ही होता है।

सब कुछ जानने के पश्चात् यदि अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तो सारा ज्ञान अपूर्ण ही रहता है।

जो तुम्हारे 'मैं' के भीतर है जिसमें अनन्त 'मैं' तरङ्गों की भांति उठ रहे हैं वही सर्वोपरि महान है उसे ही जानो।

जो कुछ तुम हो जहाँ हो वहीं परमात्मा है। परमात्मा ही महान है साक्षी है निर्विकल्प है।

अज्ञान बन्धन के हटते ही असङ्गता में जीव स्वयं शिव स्वरूप ही है।

अपने को कुछ मान लेना ही सीमित अहं को पुष्ट किये रहना है। अहं को परमात्मा में समर्पित देखो।

सद्दुपदेशसार संग्रह

१—यदि तुम शान्ति चाहते हो, तो जिससे अशांति होती है उसका त्याग करो ?

२—परमात्मा की भक्ति, योग बिना, तुम्हें परम शान्ति किसी से नहीं मिल सकती।

३—यदि तुम दुख रहित सुख चाहते हो, तो पाप रहित पुण्य करो !

४—जब तुम्हें दुःख हो तब किसी दूसरे को अपने दुख का कारण न ठहराओ !

५—याद रक्खो ! जब अपने में दोष होता है, तभी दुख प्रतीत होता है।

६–मोह की प्रबलता से ही वियोग का दुख होता है !

७–लोभ की प्रबलता से ही हानि का दुख होता है !

८–अभिमान की प्रबलता में ही अपमान का दुख होता है।

९–कामना की प्रबलता में ही अभाव का दुख होता है।

१०–हिंसा और असंयम के फलस्वरूप रोग का दुख सहना पड़ता है।

११–दूसरों को दुख देने का त्याग करो !

१२–कठोर वचन, निन्दा करने के स्वभाव का त्याग करो।

१३–सुखासक्ति ममता का त्याग करो !

१४–जिससे अपने को या दूसरे को लाभ न हो ऐसी वार्ता करने या सुनने का त्याग करो !

१५–जो व्यवहार तुम दूसरों से नहीं चाहते, वह तुम भी दूसरों के साथ न करो !

१६–जो कुछ तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो, वही दूसरों को दो !

१७–दूसरों को मान दो, प्यार दो, आवश्यक वस्तुयें दो, प्रभु की मान कर दो।

१८–याद रक्खो जो कुछ देते हो वही तुम्हें वापस होकर मिलेगा।

१९–भगवान् को ही अपना सर्वस्व जानना उन्हीं के होकर रहना उन्हीं के लिये सब कर्म करना सच्चा भजन है।

२०–अहंता ममता कामना एवं संकल्पों को छोड़ना ही शान्तिप्रद त्याग है।

२१-असंग होकर स्वरूप का ज्ञान मुक्ति का साधन है।

२२–प्रियतम प्रभु के बिना कहीं चैन न लेना सच्ची प्रीति है।

२३–यदि ईश्वर की कृपा पर विश्वास है तो ईश्वर जिस स्थिति में रखना चाहता है उसी स्थिति में संतुष्ट रहो।

२४–सत्संगी वही है जो सुखों दुखों के बीच में सम और शाँत रह सके। सुख देने वाले से मोह न करे, दुख देने वाले से द्वेष न करे।

२५–आज्ञानी पुरुष, अपने ही दोषों से दुःखी होता है, और स्वयं दुःखी होकर दूसरों को भी दुःख देता है।

२६–इच्छाओं की अधिकता में तुम त्यागी और दानी न हो सकोगे। सांसारिक लोभ, मोहादि दोषों का त्याग करना तभी तक कठिन प्रतीत होता है जब तक ईश्वर प्राप्ति की इच्छा प्रबल नहीं है, अथवा पूर्ण दुःख नहीं है।

२७–सुखी दशा में आगे आने वाले दुःख को देखो और सांसारिक सुखों से वैराग्य प्राप्त करो।

यह प्रभु का दरबार है, सबको मिलता प्यार है ।।
राजा रंक सुखी दुखियों के लिये खुला यह द्वार है ।।
परमेश्वर का ज्ञान तत्व हम जहाँ प्रकाशित पाते है ।
वही हमें प्रभु कृपा दीखती दुःख बन्धन कट जाते हैं ।।
मिटता अन्धकार है, आता सत्य विचार है ।
अपने तन या चञ्चल मन पर हो जाता अधिकार है ।। यह०
गुरु-मुख मानव दोष मुक्त हो लघु से गुरु हो जाता है ।
जो कि विमुख है, सुख के पथ में हो अगणित दुःख पाता है ।
मनमुख ही मझधार है, गुरु मुख ही भवपार है ।
वही जान पाता जैसा कुछ यह विचित्र संसार है ।। यह०
प्रभु के प्रेमी निर्मोही, निर्लोभी तत्व ज्ञानी है ।
जग के संगी तन धन के लोभी मोही अभिमानी है ।
गुरु के संग विचार है, लघु के संग विकार है ।
एक, सभी को प्रिय होता है, एक, भूमि का भार है । यह०
ज्ञान रूप प्रभु की उपासना सारे दोष मिटाती है ।
प्रभु के निकट स्वयं का अनुभव उपासना कहलाती हैं ।
उपासना ही सार है, इससे ही उद्धार है ।
पथिक प्रभु कृपा से प्रभुता का देख रहा विस्तार है ।। यह०

जागृति प्रेरणा

उठो मानव आंख खोलो सो चुके हो अब न सोना।
स्वर्ण घड़ियाँ कदाचित तुम खो चुके हो अब न खोना॥

बहुत सुन्दर समय है जाग्रत जीबन विताओ।
कहीं भी कर्त्तव्य पालन में न तुम आलस्य लाओ।
सबल होकर -बहुत दुर्बल हो चुके हो अब न होना॥

मोह निद्रा में तुम्हें जो दीखता यह मधुर सुख है।
अरे यह सब स्वप्न है बस इसी सुख का अन्त दुख है।
तुम अनेकों वार अब तक रो चुके हो अब न रोना॥

मिल रहा है वही तुमको जो कि पहले से दिया है।
उसी का फल सामने है शुभाशुभ जैसा किया है।
बीज अनुचित कर्म के यदि बो चुके हो अब न बोना॥

एक होकर बन रहे हो तुम अनेकों वेषधारी।
कभी स्वामी कभी सेवक कभी राजा या भिखारी।
पथिक क्या क्या अभी तक हो चुके हो अब न होना॥

लेखक की अन्य पुस्तकें

	पुस्तक का नाम		मूल्य
प्राप्त	१—कर्त्तव्य दर्शन (द्वितीय भाग)		०-५०
,,	२—आत्म निरीक्षण (प्रथम भाग) ×		०-३०
,,	३—आत्म निरीक्षण (दूसरा भाग) ×		०-४०
,,	४—सत्यान्वेषण	---	१-२५
,,	५—संत दर्शन	---	१-१०
,,	६—सदगति-प्रेरणा	—	०-५०
,,	७—विचार संचय	—	०-८०
,,	८—पथिकोद्गार तथा सन्त वचन	—	०-६०
,,	९—समझने की बातें प्रथम भाग	—	०.३०
,,	१०—समझने की बातें द्विनीय भाग	—	०-३०
,,	११—प्रवचन सार	—	०-१५
,,	१२—मिट्टी की महिमा	---	०-१०
,,	१३—नारी और दिव्य जीवन	—	०-४०
,,	१४—साधक और सिद्धि	—	०-३५
,,	१५—सावधान प्रथम भाग	—	--
,,	१६— ,, द्विनीय भाग	—	—
,,	१७—प्रकाश में	—	०-५०

पुस्तक मिलने का पता—

व पूज्य स्वामी जी के साथ पत्र व्यवहार का पता

१—जैसाराम आर्य, ५५ लाजपत कुञ्ज, आगरा २

२—भक्तों की दुकान अहियागंज लखनऊ।

३—सेवार्थ औषधालय १५/६६, सिविल लाइन, कानपुर।

फोन न० : ३२७५९